इकाई–10

साहित्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय–प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

एम.ए.पूर्वार्द्ध संस्कृत के चतुर्थ प्रश्नपत्र के बिन्दु संख्या 3 से सम्बन्धित इस इकाई में साहित्य–शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों के अन्तर्गत "अलंकार–सम्प्रदाय" के प्रमुख ग्रन्थ एवं उनके चिन्तक विद्वान लेखकों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :–

- अलंकार–सम्प्रदाय की पृष्ठभ्मि एवं परम्परा
- अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक तथा उनके ग्रन्थों का परिचय एवं महत्त्व

- काव्यात्मत्व के विषय में अन्य सम्प्रदायों के साथ अलंकार–सम्प्रदाय की तुलनात्मक स्थिति, तथा
- काव्य में 'अलंकार' के महत्त्व का इतिहास एवं निष्कष।

10.1 प्रस्तावना

'अलंकार' शब्द सामान्यतः 'आभ्षण' का वाचक है, जिसे धारण करने से वनिता की सहज सुन्दरता में वृद्धि होती है। काव्य में भो अलंकार उस शोभावर्धक तत्त्व का नाम है जो शब्दार्थमय काव्य की सौन्दर्यवृद्धि करता है। आचार्य भामह का कथन है कि –

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

कान्त होकर भो वनिता का मुख बिना भ्षण के शोभायमान नहीं होता। हिन्दी के महाकवि केशवदास भो कहते हैं –

भूषण बिन न बिरजई कविता वनिता मित्त।।

कविता में अलंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीतिवादी होकर भो आचार्य वामन ने 'अलंकार' शब्द को व्यापक अर्थ विस्तार देते हुए 'सौंदर्य' को ही अलंकार माना है – ''सौन्दर्यमलङ्कारः''। उनके मतानुसार यद्यपि काव्य की शोभावृद्धि गुणों से होती है किन्तु उस शोभा को अतिशय (अलम्) सीमा तक बढ़ाने के हेतु 'अलंकार' कहलाते हैं :–

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।

(काव्यालंकार सूत्र – 3/1/1,2)

अतः वे पुनः पुनः कहते हैं – 'अलङ्कतिरलंकारः'। अलम् अर्थात् सौंदर्य को चरम सीमा तक पहुंचाना ही अलंकार है। 'काव्य ग्राह्यमलंकारात्'–अलंकार होने पर ही काव्य ग्रहण (आस्वादन) करने के योग्य बनता है। इसलिए लगता है प्रारंभ में काव्य और अलंकार को अभिन्न मानकर समालोचना की विद्या के लिए 'काव्यालंकार' पद का प्रयोग किया जाता रहा होगा। भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि ने अपने ग्रन्थों के नाम काव्यालंकार या अलंकार शब्द पर रखे। इसी कारण काव्य–समालोचना के शास्त्र का नाम अलंकार–शास्त्र प्रसिद्ध हुआ। फिर यह विचार उभरा कि काव्य में अलंकार यदि सौन्दर्य का आधान नहीं करेंगे तो वे भ्षण न होकर दूषण हो जाएँगे। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि अलंकार वही है जो चारुत्व में अतिशयता लाये– 'चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। वामन ने भो 'सौन्दर्यमलंकारः' कहकर यही तथ्य स्थापित किया था। अतः इस विद्या को 'सौन्दर्यशास्त्र' नाम दिया गया जो अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' का पर्याय है।

अलंकारशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र दोनों नाम काव्य की समालोचना के परिचायक है। अतः समालोचना (क्रिटिसिज्म) को सीधे काव्य से जोड़ने पर 'काव्यशास्त्र' अभिधान प्रचलित और लोकप्रिय हुआ किन्तु काव्यशास्त्रियों ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्द और अर्थ के 'साहित्य' (सहितभाव) को काव्य की संज्ञा दी। भामह ने लिखा– 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। सारा वाङ्.मय शब्दार्थ के 'साहित्य' पर आधारित है। अतः शब्दार्थ की समालोचना के शास्त्र हेतु 'साहित्यशास्त्र' शब्द स्वीकृत हुआ। यह शब्द अधिक व्यापक अर्थ से गर्भित है। इसमें काव्य और काव्येतर वाङ्.मय – दोनों का समाहार हो जाता है।

साहित्य शास्त्र में काव्यतत्त्व और उसके अंगभ्त शब्द–शक्ति, अर्थ–शक्ति, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि का समग्र विवेचन किया जाता है। काव्य–रचना के प्रयोजन क्या हैं, कारण क्या हैं, लक्षण क्या है–इनकी मीमांसा की जाती है। प्रायः सभो विचारक 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं किन्तु काव्य में चमत्कार उत्पन्न करके साहित्य–पाथोनिधि के विलोडन–मंथन से काव्यामृत पान कराने वाले आत्मतत्त्व के विषय में अनेक मत बने, उन मतों पर आधारित सम्प्रदाय और सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। संस्कृत साहित्य–शास्त्र में ऐसे छः सम्प्रदाय प्रचलित हैं :–

1. रस सम्प्रदाय

2. अलंकार सम्प्रदाय
3. रीति सम्प्रदाय
4. ध्वनि सम्प्रदाय
5. वक्रोक्तिसम्प्रदाय
6. औचित्य सम्प्रदाय

इनके चिन्तक एवं प्रवर्तक मनीषियों के क्रमशः नाम हैं – सर्वाचार्य 1. भरतमुनि 2. भामह 3. वामन 4. आनन्द वर्धन 5. कुन्तक तथा 6. क्षेमेन्द्र। इनमें आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त और आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य–सिद्धान्त अनुयायियों के अभाव में सिद्धान्त रूप में तो प्रतिष्ठित हुए किन्तु सम्प्रदाय नहीं बन पाये।

इन सम्प्रदायों में अलंकार–सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है। वेदों और उपनिषदों के अनेक मंत्रों मं अलंकारों का प्रयोग हुआ था। किन्तु उनका विवेचन तब नहीं हुआ। केवल उपमा अलंकार का उल्लेख यास्क रचित निरुक्त में तथा पाणिनीय व्याकरण–ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में हुआ। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों का नामोल्लेख किया– उपमा, रूपक, दीपक और यमक। आचार्य भामह ने जब काव्यशास्त्र के पाठ्यरूप के समालोचन का पृथक् मार्ग प्रशस्त किया तब अलंकार को काव्य के अनिवार्य अंग के रूप में साहित्यशास्त्र में स्थान मिला। उसकी गहन मीमांसा की गई और काव्य के प्रमुख सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में उसे काव्य का आत्मा मानकर अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। पाँचवी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक अन्य सम्प्रदायों के समानान्तर अलंकारों का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अनवरत मनन–चिन्तन होता रहा, नये–नये अलंकार आविभ्त हुए, उनकी संख्या सवा सौ के लगभग बढ़ती गई, अलंकार विरोधी आचार्य उत्तम काव्य में उनके महत्त्व को कम करके भो उनकी अवस्थिति को नकार नहीं सके।

प्रस्तुत इकाई अलंकार–सम्प्रदाय के प्रवर्तन, इतिहास, उसके चिन्तन आचार्यों तथा उनकी रचनाओं के विवरण–विवेचन से सम्बद्ध है। इसी सन्दभ में अन्य काव्य–सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायेगा।

10.2 'साहित्यशास्त्र' का संक्षिप्त परिचय

जैसा कि पूर्व इकाई में कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्र संस्कृत आलोचना–शास्त्र का पर्यायवाची है। काव्य का लक्षण करते हुए आचार्य भामह ने जब 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा, तब उन्होंने शब्द और अर्थ के सहित भाव द्वारा भविष्य में प्रचलित होने वाले साहित्यशास्त्र अभिधान का संकेत कर दिया था। शास्त्रीय रूप से राजशेखर ने 'पश्चमी साहित्य विद्येति' कहकर इस नाम की प्रतिष्ठा की। रुय्यक और विश्वनाथ ने क्रमशः अपने ग्रन्थों के नाम रखे– साहित्य की मीमांसा तथा साहित्य–दर्पण। महाकवि कालिदास ने 'शब्दार्थौ' के स्थान पर 'वागर्थौ' शब्द 'पार्वती परमेश्वरौ' की सटीक उपमा के लिए प्रयुक्त किया, उसमें भो सम्पृक्तता का भाव साहित्य का ही बोधक था। महाकवि माघ ने 'शब्दार्थौ' के द्वन्द्व को ही सत्कवि के लिए अपेक्षित बताया – 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।'

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग महाकवि बिल्हण ने अत्यन्त ललित शैली में स्पष्ट कर दिया कि 'साहित्य' समुद्र की तरह व्यापक शब्द है और काव्य उसी के मन्थन से उद्भत 'अमृत' रूप पदार्थ है। क्षीर सागर–मन्थन के पौराणिक आख्यान के सन्दभ में कवि ने दोनों का रहस्य कितने रोचक व्यंग्य से व्यक्त किया है –

साहित्य–पाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ – चौराः प्रगुणी भवन्ति।।

कई अन्य समालोचक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों के नामकरण में 'साहित्य' शब्द अपनाया है। आचार्य कुन्तक भो 'साहित्य' शब्द के पक्षधर हैं आधुनिक युग में संस्कृत वाङ्मय के मूर्धन्य पंडित आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य शास्त्र' शीर्षक से सुरभारती के

काव्यशास्त्रीय इतिहास पर अपना गन्थ दो खण्डों में लिखा है। यही 'साहित्यशास्त्र' शब्द की प्रामाणिकता एवं संक्षिप्त परिचय है।

10.2.1 'साहित्य' का अर्थ और काव्य–लक्षण

काव्य का प्रथम लक्षण आचार्य भामह ने किया– **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** – अर्थात् शब्द और अर्थ के सहित भाव का नाम है काव्य। यह सहित भाव ही 'साहित्य' है। शब्द और अर्थ पृथक् नहीं हैं फिर भो उनका नामतः पृथक् अस्तित्व प्रतीत होता है अर्थ शब्द में निहित है, उसी का अभिव्यक्त रूप शब्द है। 'शब्दार्थौ' में द्वन्द्व समास और द्विवचन रूप है – दोनों के पृथक् अस्तित्व का बोधक। फिर भो दोनों अभिन्न है। तुलसीदास के शब्दों में यह सम्बन्ध है – गिरा–अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न। महाकवि कालिदास शब्दार्थौ' में 'पार्वती परमेश्वरौ' को 'अर्धनारीश्वर' के रूप में पृथक् होकर 'सम्पृक्त' देखते हैं। शब्द और अर्थ की यह संपृक्ति, यह सहित–भाव ही काव्य है। साहित्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा काव्य का यही लक्षण मान्य रहा है। भले ही दण्डी इसे 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' कहे या विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं' कहें अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः कहकर लक्षण करें, काव्य– लक्षण में शब्द और अर्थ के 'साहित्य को नकार नही सकते। अतः मम्मट के शब्दों मे 'शब्दार्थौ' ही 'तत्' है।

सहितौ का एक अर्थ और भो है – हितेन युक्तौ। हित काव्य का प्रयोजन है जिसे मम्मट ने 'शिवेतरक्षति' कहा है। अतः 'स+हितौ' शब्दार्थौ से सभो का हित करते हैं – कवि को यश और अर्थ दिलाकर, जनता को व्यवहार सिखाकर अमंगल दूर करके तथा प्रिय उपदश देकर तथा काव्य–रसिक को परमानंद की अनुभ्ति द्वारा। यह साहित्य का अर्थ है यही काव्य का लक्षण है।

10.2.2 साहित्य शास्त्र : पृष्ठभूमि

संस्कृति के विकास की यही परिपाटी रही है कि रचना पहले होती है, फिर उसकी व्याख्या की जाती है। लक्ष्य–ग्रन्थ पहले लिखे जाते हैं फिर उन पर लक्षण–ग्रन्थों का लेखन होता है। जीवन के यथार्थ स्वतः घटित होते रहते हैं, उन्हें नियमशासित एवं आदर्श बनाने के लिए 'शस्त्र' का प्रणयन किया जाता है। साहित्य–शास्त्र के लेखन की भो यह पृष्ठभ्मि है।

मंत्रदृष्टा ऋषियों ने वैदिक मंत्रों का साक्षात्कार किया उन्हें शब्दाथ रूप में ढाला जिन्हें सुनकर जनमानस पवित्र और मुग्ध हुआ किन्तु उनकी काव्यमयी शब्दार्थ–सम्पदा का आनंद 'गूंगे के गुड़' की तरह ले पाया। धीरे–धीरे उसने उनकी व्याख्या, प्रशस्ति और समालोचन के लिए शब्दावली गढ़ी, उदाहरणों से कुछ मानक बनाये, लक्षणों की परिकल्पना की आर शास्त्र का निर्माण किया। यह सूक्ति प्रसिद्ध है– 'कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।' इन रसज्ञ पंडितो ने पहले 'कवि स्वयंभः' के काव्य को पढ़ा–देखा जो अमर–अजर है – ''पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति।'' फिर अपनी कल्पना शक्ति से भाव जगत् की रचना करने वाले 'कविरेकः प्रजापति' की रचना का आस्वाद लिया और उस काव्य की समीक्षा के, समालोचना के नियम बनाये और उन्हें नाम दिया – 'साहित्यशास्त्र'। यही साहित्यशास्त्र के प्रणयन की पृष्ठभ्मि है। यह शास्त्र काव्य–रचना की अनुवर्ती होता है। प्रत्येक युग में जब 'निरंकुशाः कवयः' नई–नई उद्भावनाएं करते है, नया शिल्प गढते हैं, तो इस शास्त्र के मानक भो बदलते जाते हैं।

10.2.3 साहित्य के प्रमुख घटक

साहित्यशास्त्र का फलक बहुत व्यापक है। कहा गया है– 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'। शब्द ब्रह्म है, 'बृंह्' धातु का अर्थ है – विस्तार करना। भर्तृहरि कहते हैं कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति भो परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। शायद इसी भाव से भट्टनायक ने काव्य की चरम रसानुभ्ति को 'ब्रह्मास्वाद–सहोदर' कहा था। यह काव्य शब्दार्थ–युगल के साहित्य का नाम है। इसका शास्त्र लिखने वाले साहित्य–मनीषियों ने काव्य–रसिकों के ज्ञान के लिए कछ घटक निश्चित किये, तथा अपने ग्रंथों में उनकी सोदाहरण मीमांसा की है। ऐसे कतिपय घटकों का नामतः परिचय निम्नलिखित है :–

काव्य–लक्षण, काव्य–हेतु, काव्य–प्रयोजन, काव्य के प्रकार (विधाएँ), श्रेष्ठता के आधार पर काव्य–भद, काव्यगुण, काव्य दोष, काव्य के शब्दार्थ–गत अलंकार, शब्द शक्ति–अभिधा, लक्षणा तात्पर्याख्या तथा व्यंजना की परिभाषा एवं भदोपभद, काव्यात्मा विवेचन, विभिन्न सम्प्रदाय, रसनिष्पत्ति तथा उसके विभावानुभाव व्यभिचारी एवं स्थायी भाव का विवेचन, कवि एवं काव्य–रसिक तथा काव्येतिहास का अध्ययन–समीक्षण आदि।

10.3 साहित्य शास्त्र सम्प्रदाय–प्रवर्तन

इस इकाई का प्रतिपाद्य विषय है संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों के अंतर्गत अलंकार–सम्प्रदाय की चिन्तन एवं ग्रन्थ–परम्परा का परिचय। सम्प्रदाय–प्रवर्तन का क्रम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से ईसा–पूर्व युग में आरम्भ हो चुका था जब काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस की प्रतिष्ठा हुई। भरतमुनि ने लिखा– 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। भरत ने 'नाट्य' में रसनिष्पत्ति का सूत्र रचा और रस–सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। छठी शताब्दी में जब आचार्य भामह से शब्दार्थमय श्रव्य काव्य के पृथक विवेचन का युग शुरू हुआ तब सर्वप्रथम शब्द और अर्थ के अलंकरण के लिए 'अलंकार तत्त्व' को काव्य का प्राण मानकर रसानुभति के प्रमुख साधन के रूप में अलंकार को प्रधानता मिली। इस प्रकार काव्यशास्त्र में सम्प्रदाय प्रवर्तन आगे बढा। कुछ और गहराई में जाने पर गुण और रीति को अंगीभत रस के आन्तरिक धर्म होने से अलंकार से अधिक प्रधानता मिली। 8वीं शताब्दी में शब्द शक्तियों के विवेचन में जब व्यञ्जना–शक्ति का आविष्कार हुआ तो ध्वनितत्त्व को शब्दार्थमय काव्य के प्राणतत्त्व होने का सम्मान मिला। ध्वनि की प्रस्थापना के बाद इसके विरोधियों के वक्रोक्ति और औचित्य के सिद्धान्त 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में विलीन हो गये तथा काव्यात्मा की खोज के आधार पर शुरू होने वाली सम्प्रदाय–प्रवर्तन की परम्परा को विराम लग गया।

10.3.1 काव्यात्मा का प्रश्न

शब्द और अर्थ मिलकर काव्य का दृश्यमान एवं नामरूपात्मक शरीर रचते हैं, चाहे वह दण्डी के अनुसार 'पदावली के रूप में हो या मीमांसको के 'एकक्रिय वाक्य' रूप में किन्तु आत्मा के बिना शरीर निष्क्रिय शव ही होता है। शब्द पढ़े जाते हैं, अर्थ समझे जाते हैं किन्तु उनमें पाठक के अन्तर्मन को झंकृत करने वाला कोई तत्त्व न हो, चेतना को अलौकिक आनंद में मग्न करने वाला सामर्थ्य न हो तो वह 'वागर्थ' निरुद्देश्य और निर्जीव होता है। इसके विपरीत रमणीय व्यंग्यार्थों से सम्पन्न काव्य कालजयी होता है। इसलिए काव्यशास्त्रियों के सम्मुख 'काव्यात्मा' का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस पर गहन चिन्तन और अनुसंधान करके विद्वानों ने जो निष्कष निकाले वे 'सम्प्रदाय' बनकर प्रतिष्ठित हुए। वस्तुतः 'काव्यात्मा' क्या है ? शब्दार्थ–युगल में विद्यमान वैशिष्ट्य। रुय्यक रचित 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध का निष्कष इस संदभ में विचाराणीय है। वह कहता है – 'विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है। इन दोनों का वैशिष्ट्य मुख्यतः तीन की प्रमुखता से काव्यशास्त्रियों ने माना है – धर्म द्वारा, व्यापार द्वारा और व्यंग्य द्वारा।

धर्म के दो पक्ष हैं – अलंकार और गुण । व्यापार के दो रूप हैं – उक्तिवैचित्र्य और भक्तिव्यापार। इन पाँच पक्षों में वैशिष्ट्य को मानने वालों के क्रमशः नाम हैं – उद्‌भट, वामन, कुन्तक, भट्टनायक और आनन्दवर्धन जो क्रमशः अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि को वैशिष्ट्य का मूल तत्त्व मानते हैं। इन्हीं से काव्यशास्त्र के पांच सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त तो सर्वसम्मत विचार है।

10.3.2 काव्यात्म–दृष्टि से प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय

समुद्रबंध ने सम्प्रदायों के प्रवर्तन की ऐतिहासिक परम्परा का आधार शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य को माना और उसकी अपनी–अपनी दृष्टि से मानने वाले आचार्यों का नामोल्लेख किया। रस–निष्पत्ति तो काव्य का ध्येय है और औचित्य रस का पोषक तत्त्व, जिसके न होने से रसभग हो जाता है। अतः इनका उल्लेख समुद्रबंध ने 'वैशिष्ट्य' कारक तत्त्वों में नहीं किया किन्तु अलंकार–शास्त्र में सामान्यतः छः सम्प्रदाय माने जाते हैं। ये हैं – (1) रस

सम्प्रदाय (2) अलंकार–सम्प्रदाय (3) रीति सम्प्रदाय (4) ध्वनि–सम्प्रदाय (5) वक्रोक्ति–सिद्धान्त तथा (6) औचित्य सिद्धान्त। अलंकार–सम्प्रदाय का विवेचन आगामी बिन्दु में किया जायेगा। यहां शेष सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्रसंगतः प्रस्तुत है –

(1) रस सम्प्रदाय : भरतमुनि रस–सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक आचार्य है। 'नाट्यशास्त्र' में भरत का यह रससूत्र रससिद्धान्त का मेरुदण्ड है – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। विभाव, अनुभाव, व्यभिचार भाव, स्थायी भाव आदि पारिभाषिक शब्द सभो सम्प्रदायों में स्वीकृत हैं। रस की व्युत्पत्ति है – रस्यते आस्वाद्यते इति रसः अथवा रसनं रसः आस्वादः। काव्य का नाट्य से जनित अलौकिक आस्वाद ही रस है जो विभावादि के संयोग से निष्पन्न होता है। रससूत्र की व्याख्या चार आचार्यों न की – भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने प्रथम तीन विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुए अपना रसाभिव्यक्ति – मत व्यक्त किया।

रस सम्प्रदाय में रस, उनके स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, व्याभिचारी भाव, भावाभास आदि विषयों पर गहन विचार हुआ है। भरत ने आठ नाट्यरस निर्धारित किये थे – श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भत, भयानक्, बीभत्स, रौद्र और करुण जिनके क्रमशः स्थायी भाव हैं – रति, हास, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा, क्रोध और करुणा। शान्तरस नवम रस है जो विवाद का विषय रहा है। 'नवरसरुचिरा' कविभारती में रूद्रट ने 'प्रेयान्' रस जोड़ा, विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' और रूपगोस्वामी ने 'भक्ति' (मधुर) रस। रस–सम्प्रदाय की परम्परा को नाट्यशास्त्र के अनुरूप आगे बढाने वाले आचार्य थे– धनंजय (दशरूपक) रामचंद्र–गुणचन्द्र (नाट्य दर्पण), शारदातनय (भाव प्रकाशन) सिंहभ्पाल (रसार्णवसुधाकर) भानुदत्त (रस तरंगिणी) आदि किन्तु काव्य में रस के वर्चस्व को सभो सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है।

(2) अलंकार–सम्प्रदाय : रस–सम्प्रदाय के बाद काव्यशास्त्र में अलंकार को काव्यात्मा का स्थान मिला। इसके सम्प्रदाय का वर्णन आगामी बिन्दु (10.4) के अंतर्गत किया जायेगा।

(3) रीति–सम्प्रदाय : शब्दार्थ के सौन्दर्य को अलंकार मानने वाले आचार्य वामन ने जब गुणतत्त्व पर विचार किया तो उन्हें लगा कि काव्य के शोभाविधायक धर्म तो गुण हैं, उसके अतिशय के हेतु हैं अलंकार। गुणों के गमन (अभिव्यक्ति) का मार्ग है – रीति (रीङ्.गतौ) जिसका लक्षण उन्होंने किया– 'विशिष्टा पदसंघटना रीतिः'। भामह ने काव्य के तीन गुण माने थे– माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। माधुर्य पर आधारित वैदभ मार्ग और ओजः पर अवलम्बित गौड मार्ग का भद दण्डी ने स्पष्ट किया। इन्हीं दोनों मार्गों का नाम वैदर्भा और भरत प्रतिपादित दस गुणों की संख्या शब्द गुण (10) तथा अर्थगुण (10) मिलाकर बीस कर दी। इस प्रकार वामन ने रीति–सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसका मुख्य वाक्य है – रीतिरात्मा काव्यस्य।

आगे चलकर रुद्रट ने वामन प्रतिपादित रीतियो में चौथी वृत्ति 'लाटी' जोड़ दी और उनके लक्षण समास की स्थिति के आधार पर किया। राजशेखर और शारदातय ने वचन विन्यासक्रम को रीति का आधार बताया।

भोज और शारदातनय रीतियों की संख्या छः मानते हैं। अंग्रेजी में साहित्य समालोचना में एक तत्त्व होता है – 'स्टाइल' जिसको हिन्दी में शैली कहते हैं। शैली व्यक्ति–गुण का अभिव्यक्त रूप है – "Style is the man himself" व्यक्ति ही शैली है। इसे रीति का पर्याय भो कहा जा सकता है। व्यक्ति परक होने के कारण इसके अगणित भद हो सकते हैं। दण्डी का कथन है – तद्भदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। 'रीति रसादीनामुपकर्त्री' '(विश्वनाथ) है किन्तु उसे काव्य के बहिरंग साधन का अधिक महत्त्व ध्वनिवादियों ने नहीं दिया।

(4) ध्वनि–सम्प्रदाय : ध्वनि– सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य आनंदवर्धन जिन्होंने ध्वनि–विरोधियों के मतों का खण्डन करके 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का उद्घोष किया। उन्होंने काव्य में अर्थ के दो भद किये – वाच्य और प्रतीयमान। ध्वनि का मूल है प्रतीयमान अर्थ जो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा व्यक्त होता है और अंगना (सुंदरी) के अंगों में झलकने वाले लावण्य की तरह काव्य में अलंकार, रीति आदि अंगों से अलग प्रतीत होता है। यही ध्वनि काव्यात्मा है। इसके मुख्य तीन भद है – वस्तु, अलंकार और रस। यही सहृदयों के हृदयों को आनंदित करने वाला तत्त्व है। इसकी व्याख्या ध्वन्यालोककार ने आदिकवि वाल्मीकि के शाप–प्रसंगों से जोड़कर की है जिसमें क्रौञ्च–युगल के वियोग से उत्पन्न उनका शोक श्लोक बन कर व्यक्त हुआ था– शोकः श्लोकत्वमागतः।

ध्वनि–सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोटवाद से प्रेरित है। इसकी व्युत्पति है – ध्वनति, ध्वन्यते वा इति ध्वनिः। जहां वाचक शब्द या वाच्यार्थ स्वयं को विसर्जित करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते है, वह काव्यविशेष 'ध्वनि' कहलाता है। यही काव्य उत्तम होता है। इस मत का विरोध आनंदवर्धन से पूर्व भो हो चुका था, उनके बाद भो भट्टनायक, महिमभट्ट, कुन्तक आदि ने किया किन्तु आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने उनका खंडन किया और मम्मट ने ध्वनि की पुनः स्थापना की। इसलिये उन्हें 'ध्वनि–प्रस्थापन परमाचार्य' कहा जाता है। ध्वनि–सम्प्रदाय रस–सिद्धान्त का ही अभिवृद्ध रूप है।

(5) वक्रोक्ति–सिद्धान्त : आचार्य कुन्तक ने भामह के ''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन के आधार पर वक्रोतिवैदग्ध्यभगीभणितिरुच्यते। उनका मत था कि शब्दार्थ से जो काव्य शरीर निष्पन्न होता है, उसमें दो विशेषताएं होनी चाहिए– एक तो उस उक्ति में प्रसिद्ध वचन–व्यापार से भिन्न वक्र ;विचित्रद्ध अभिधा हो, दूसरे वह लोकोत्तर उक्ति सहृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो। ऐसी वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का जीवन तत्त्व माना – 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ लिखकर अपना सिद्धान्त स्थापित किया। उन्होंने वक्रोक्ति को मात्र शब्दांलकार मानने वालों के विरुद्ध वक्रोक्ति का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसके मुख्य छः भद किये – (1) वर्ण विन्यास वक्रता, (2) पदपूर्वार्धवक्रता (3) प्रत्यय–वक्रता (4) वाक्यवक्रता (5) प्रकरण वक्रता तथा (6) प्रबन्धवक्रता।

कुन्तक अभिधावादी थे। उन्होंने ध्वनि के प्रभदों को वक्रोक्ति में समाविष्ट करके वक्रोक्ति को काव्यात्मा सिद्ध करने में सारा पण्डित्य लगा दिया किन्तु उनका सिद्धान्त अनुयायियों के अभाव में सम्प्रदाय का स्वरूप नहीं ले पाया।

(6) औचित्य सिद्धान्त : ध्वनिवादी अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने न रस का विरोध किया, न ध्वनि का, केवल सर्वत्र 'औचित्य' रखने का समर्थन किया। काव्य–सौन्दर्य के आधायक सभो तत्त्वों – गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि, रसादि का समावेश 'औचित्य' में कर लिया। औचित्य को क्षेमेन्द्र ने काव्य का जीवित सर्वस्व कहा –

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

नायक या रस में कहीं भो कुछ अनुचित हो तो उसका परिहार करने का निर्देश धनंजय दशरूपक (3/24) में कर चुके थे। स्वयं ध्वन्यालोककार पहले ही अनौचित्य को रसभग का कारण और औचित्यबन्ध को रस का परम रहस्य कह चुके थे। क्षेमेन्द्र ने अपना सिद्धान्त स्थापित करने के लिए औचित्य के 27 भदों का विवेचन भो किया किन्तु समर्थकों के अभाव में औचित्य का सम्प्रदाय नहीं बन सका और उनकी 'औचित्य–विचार–चर्चा' चर्चा ही बनकर रह गई।

10.3.3 सबसे प्राचीन एवं प्रमुख अलंकार–सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों तथा सिद्धान्तों में अलंकार–सम्प्रदाय काव्य–शास्त्र का सबसे प्राचीन और प्रमुख सम्प्रदाय कहा जा सकता है। निरुक्त (10.1.2) में 'सोमा अरड्.कृता अलड्.कृताः' कहा

गया है जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक ग्रन्थों में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग सौंदर्याधायक तत्त्व के रूप में हो चुका था। भरत–नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों को काव्यशास्त्रीय स्वीकृति मिली। भामह ने काव्य का लक्षण जब नाट्य से पृथक् किया तो 'अलंकार' शब्दार्थ–युगल के आत्मतत्त्व माने गये और अलंकार–सम्प्रदाय का बीजारोपण हुआ। यह काव्यशास्त्र के इतिहास का प्राचीनतम मोड़ था। जब काव्य के रसास्वाद के लिए अन्य घटकों के महत्त्व पर नये सिरे से विचार–मंथन आरम्भ हुआ और अलंकार को सर्वप्रथम प्रमुखता मिली।

10.4 अलंकार–सम्प्रदाय : एक विहंगम–दृष्टि

रस–सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा स्थान अलंकार–सम्प्रदाय का है। नाट्य एवं काव्य में रस की अनिवार्यता के प्रतिपादक 'नाट्यशास्त्र' के लगभग एक सहस्राब्दी बाद आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्.कार' नामक ग्रन्थ लिखकर दृश्य–काव्य से शब्दार्थमय श्रव्य काव्य की पृथक् परिभाषा की। शब्द और अर्थ में लोकोत्तर वक्रकथन द्वारा सौंदर्यवर्धक तत्त्व के रूप में अलंकार को प्रधानता मिली। इस सिद्धान्त को गुणवादी दण्डी, रीतिवादी वामन और रुद्रट आदि विद्वान् उस युग तक स्वीकारते रहे जब तक आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य का आत्मा सिद्ध नहीं कर दिया। आनन्दवर्धन के बाद भो अलंकारों को भले ही 'कट्कादिवत्' बहिरंग तथा अंगाश्रित शोभाधायक तत्त्व कहा गया ध्वनिवादियों ने उन्हें रस का उपकारक अवश्य माना। 'अनलङ्.कृती पुनः क्वापि' कहने वाले मम्मट को भो चन्द्रालोककार जयदेव का कोपभाजन बनना पड़ा। अलंकार–सम्प्रदाय के लगभग एक सहस्राब्दी के इतिहास में काव्य में अलंकारों की प्रधानता में कमी अवश्य आई किन्तु कोई भो सम्प्रदाय अलंकारहीन काव्य की कल्पना नहीं कर सकता था। भरत के चार अलंकारों से चलकर अलंकारों की संख्या अप्पय दीक्षित तक 125 तक जा पहुंची। यह इस सम्प्रदाय की महत्ता और लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है।

10.4.1 अलंकार–लक्षण : विभिन्न मत

नाट्यशास्त्र (अध्याय–17) में नाट्य में प्रयुक्त काव्य के 36 लक्षणों की गणना की गई है। उनमें प्रथम है ''भ्षण'' (विभ्षण)। भरत के अनुसार इसकी परिभाषा है – अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्.कृतम्। भ्षणैरिव चित्रार्थैस्तद् भ्षणमिति स्मृतम्।। इससे स्पष्ट होता है कि भ्षण नामक लक्षण में विचित्रार्थक अलंकारों और गुणों का समावेत बहुशः होता है। ये लक्षण शनैः शनैः नष्ट होते चले गये। जो शेष रहे, उनमें से कतिपय (हेतु, लेश) को अलंकारों में सम्मिलित कर लिया गया। भामह ने 'भ्षण' का प्रयोग अलंकार – अर्थ में ही किया –

'न कान्तमपि निर्भूषं' विभाति वनितामुखम्।

दण्डी ने लक्षण किया– 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। रीतिवादी वामन ने गुणों को शोभाकर कहकर उनके अतिशय के हेतु रूप में अलंकारों का लक्षण किया– 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवरुवलङ्काराः।' आचार्य कुन्तक ने सालंकार शब्दार्थ में ही काव्यत्व माना– 'सालङ्कारस्य काव्यता।' ध्वनिवादी मम्मट ने अलंकारों को काव्य के अंगी रस के उपकारक अंग कहा –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

विश्वनाथ ने अलंकारो को शब्दार्थ–युग्म के अस्थिर धर्मों की संज्ञा दी जो 'शोभातिशयशाली' होते है। चन्द्रालोककार ने भो यही माना– 'हारादिवदलंकार – संनिवेशो मनोहरः।' इस प्रकार अलंकारों के लक्षण विभिन्न मतानुसार किये जाते रहे जिनमें अलंकार के शोभाकरत्व और चमत्कारत्व धर्म को प्रायः सभो काव्यशास्त्रियों ने मान्यता दी।

10.4.2 अलंकारवादी चिन्तन में ध्वनि तथा रस

अलंकारवादी चिन्तन के प्रमुख एवं प्रतिनिधि चिन्तक थे भामह और दण्डी। उन्होंने अलंकार का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जिसमें रस भो समाविष्ट होकर 'रसवत्' अलंकार बन गया। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे रस सिद्धान्त से अपरिचित थे। उन्हें काव्य में अलंकार ही शब्दार्थ–युग्म में प्रत्यक्ष शोभाकारक और चमत्कारजनक लगते थे, इसलिए उन्होंने रसों को अलकारों से गौण माना और उनका रसवद् आदि अलंकारों के रूप में उल्लेख किया। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) को भो वे जानते थे, यद्यपि ध्वनि–सम्प्रदाय की पारिभाषिक शब्दावली जब तक प्रचलित नहीं हो पाई थो, अतः उन्होंने ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप आदि की परिभाषाओं में प्रतीयमान अर्थ का पर्याप्त अन्तर्भाव कर लिया।

उदाहरणार्थ –

'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः। सा समासोक्तिः।' इस तथ्य को पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में स्पष्ट किया है। अतः अलंकारवादी ध्वनि और रसतत्त्व से भलीभांति परिचित थे किन्तु उनका अलंकार–चिन्तन इतना विस्तृत और व्यापक था कि उन्होंने वक्रोक्ति या अतिशय–कथन–मंडित अलंकारों में ध्वनि और रस को भो समाहित कर दिया। सारा व्यंग्य–प्रपंच पर्यायोक्त अलंकार की कुक्षि में निक्षिप्त कर दिया। रस को रसवद् अलंकार में परिणत कर डाला।

10.4.3 अलंकार–सम्प्रदाय का सोपान–विकास

अलंकार–चिन्तन का विकास कई सोपानों से होता हुआ आगे बढ़ा। पांचवी–छठी शताब्दी में उसे शब्दार्थमय काव्य का प्रधान जीवनतत्त्व माना गया। काव्य के जितने शोभाकर धर्म है, उन्हें दण्डी ने 'अलंकार' कहा। वामन ने काव्य को ललित–कला मानकर अलंकार को सौंदर्य का पर्याय कहा। कला की तरह काव्य भो अलंकरण द्वारा स्वीकार्य बनता है – काव्यं ग्राह्यमलंकारात।' वामन का मत था कि काव्य के शोभाकारक धर्म तो गुण हैं किन्तु उनमें अतिशय (वैशिष्ट्य) अलंकारों से ही उत्पन्न होता है। उद्भट ने अलंकार को काव्य का प्रधानतत्त्व मानते हुए रस को रसवत् प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित में समाविष्ट कर लिया। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार–रहित उक्ति को काव्य ही मानने से इनकार किया। ध्वनि–वादियों ने कंगन, हार आदि की तरह काव्य–शरीर के बाह्य आभूषण के रूप में अलंकार का महत्त्व स्वीकार किया। जयदेव ने कहा कि अलंकार तो काव्य का ऐसा प्राणतत्त्व है, जैसे उष्णता अग्नि का। साहित्यदर्पणकार ने अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्मों के रूप में स्वीकृति दी। 'रसगंगाधर' में व्यंग्यार्थ को काव्यात्मा मानकर अलंकार को उसकी रमणीयता का प्रयोजक कहा। इस प्रकार पाँचवी से 17वीं शताब्दी तक अलंकारों ने महत्त्व और विकास के अनेक सोपन तय किये।

10.5 अलंकार–सम्प्रदाय में अलंकार–विवेचन

साहित्यशास्त्र में सम्प्रदाय–प्रवर्तन की आधार–शिला है – काव्यात्मा का अन्वेषण और साहित्यशास्त्र के किसी घटक की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा। भामह ने जब प्रथम बार 'अलंकार' को यह महत्त्व प्रदान किया कि 'न कान्तमपि निभूषं विभाति वनितामुखम्' और वक्रोक्तियुक्त अलंकार को ही सर्वप्रधान तत्त्व कहा तब अलंकार का सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक था। भामह ने शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को काव्य की संज्ञा दी। दोनों को विभूषित (अलंकृत) करने के लिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का द्विविध विभाजन किया, जो सम्प्रदाय के अलंकार विवेचन की पद्धति बन गया। पहली बार भामह ने नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार अलंकारों की संख्या बढ़ाकर 38 अलंकारों के विवेचन से अपने सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया जो 17वीं शताब्दी ई. तक अनवरत चलती रही। ध्वनिवादियों ने 'हारादिवद्' या 'कटककुण्डलादिवत्' काव्य–शरीर को विभूषित करते हुए रस तत्त्व को बाहर से उपकार करने वाले अंग के रूप में ही अलंकार को मान्यता दी। किन्तु अलंकार का महत्त्व स्वीकार करने में संकोच नहीं किया।

10.5.1 अलंकार–वैशिष्ट्य का मूल तत्त्व

अलंकार को काव्यगत चारुत्व का हेतु और शोभा के अतिशय का आधायक कहा गया है किन्तु उसके इस वैशिष्ट्य का मूल क्या है ? भामह ने 'वक्रोक्ति' को मूल बताया जो कवि की प्रतिभा से उठकर चमत्कार उत्पन्न करती है – सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति... कोऽलङ्कारोऽनयाविना। आचार्य दण्डी ने अतिशयोक्ति को 'अलंकारत्व' का आधार बनाया – 'उक्तिमिमामतिशयाह्वायाम्'।

ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने भो अतिशयोक्ति को 'सर्वालङ्काररूपा' कहकर दण्डी का समर्थन किया। मम्मट ने भो 'अतिशयोक्ति' को अलंकार का प्राणतत्त्व माना – 'सर्वत्रातिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणाऽलङ्कारत्वागोयात्। अलंकारवादी अप्पयदीक्षित ने उपमा सब अलंकारों का एकमात्र मूल कारण माना था। उनका काव्यात्मक कथन है –

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

रुद्रट ने अलंकारो के चार मूलाधार माने और उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया – (1) वास्तव, (2) औपम्य (3) अतिशय तथा (4) श्लेष। इस प्रकार अलंकारो के मूल तत्त्व का अन्वेषण हुआ जो अलंकार में वैशिष्ट्य या चमत्कार उत्पन्न करता है।

10.5.2 शब्द–अर्थ–उभय के आधार पर वर्गीकरण

कुछ अलंकार शब्दगत होते हैं, कुछ अर्थगत तथा कुछ शब्दार्थोभयगत। इस प्रकार इनके तीन भद किये गये हैं– शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्दालंकारों में प्रायः पांच या छः अलंकार ही मान्य रहे हैं। जैसे–अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पनरुक्तवदाभास एवं चित्र। भोज ने शब्दालंकारो के 24 भद माने हैं। अर्थालंकारो की सीमा नहीं है। दण्डी का कथन सटीक है।

ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्र्न्येन वक्ष्यति।।

अर्थात् उनके विकल्प आज भो खुले हैं, उनका समग्र रूप से वर्णन कौन करेगा ? केवल भोज ने अपने ढंग से शब्द, अर्थ और उभय वर्गों में प्रत्येक में 24 अलंकारों की गणना करके 72 अलंकारों का वर्णन किया तथा रुय्यक ने अलंकारों का वर्गीकरण शुद्ध और मिश्र खंड में करके शुद्ध के अन्तर्गत पांच शब्दालंकार और 71 अर्थालंकार एवं मिश्र के अन्तर्गत दो अलंकार–संसृष्टि और संकर गिनाकर कल 78 अलंकारों का वर्गीकरण किया। शेष आलंकारिकों में वर्गीकरण का लगभग यही आधार रहा है, संख्या चाहे कितनी भो हो।

10.5.3 अलंकारों की संख्या

पहले कहा जा चुका है कि चाहे अलंकारवादी आचार्य हों या रीति, रस, ध्वनि आदि सम्प्रदायों के समर्थक, अलंकार–विमर्श में सबकी प्रतियोगिता निरन्तर चलती रही। चार नाट्यरसों के स्थापक भरतमुनि के मत से पृथक् होकर काव्यशास्त्रियों की जो परम्परा चली, उसमें सर्वप्रथम भामह ने शब्दार्थ–युगल की सौंदर्य–वृद्धि करने वाले अलंकारों की संख्या–वृद्धि 38 अलंकारों का विवेचन किया। दण्डी ने इनमें से छः को अस्वीकार करके 5 नये अलंकारों की उद्भावना करके 37 अलंकार के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये। उद्भट ने इस क्रम में चार अलंकार और जोड़े। वामन गुण एवं रीति के समर्थक थे, फिर भो 31 अलंकारों का विवेचन किये बिना नही रह सके। रुद्रट ने इसे 71 तक बढ़ाया जिनमें 5 शब्दालंकार और चार वर्गों में विभाजित 66 अर्थालंकार हैं। भोज ने इनसे एक अलंकार अधिक रखा। मम्मट ने छः शब्दालंकार और 62 अर्थालंकार समेत 68 अलंकारों का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया। रुय्यक ने 78, जयदेव पीयूषवर्ष ने 100, पंडितराज जगन्नाथ ने भो लगभग 100 तथा अप्पयदीक्षित ने कुवलयानंद में लगभग 125 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। यह उत्तरोत्तर वर्धमान संख्या अलंकार–चिन्तकों के गहन चिन्तन का प्रमाण है।

10.6 अलंकार का काव्यात्मत्व – समीक्षण

जिस प्रकार शरीर में आत्मतत्त्व प्रमुख है, उसी प्रकार काव्य में भो कोई आत्मस्थानीय तत्त्व होना चाहिये। काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग से ही आचार्य उस आत्मतत्त्व का अन्वेषण करते रहे हैं। जब भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' कहकर शब्द और अर्थ के 'सहित भाव' को काव्य माना तब उसके आत्मा के पद पर 'अलंकार' को प्रतिष्ठित किया। इससे पूर्व नाट्य में भरतमुनि 'रस को प्रतिष्ठित कर चुके थे – 'न रसेन विना कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' आगे चलकर वामन ने रीति को तथा आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा कहकर अपने सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया तब अलंकार शब्दार्थ के बाह्य विभ्षण 'कटककुण्डलादिवत् होकर रह गया।

जब भामह ने अलंकार को काव्य का जीवातु कहा ओर उसे शब्द और अर्थ का वैशिष्ट्य प्रतिपादक प्रमुख तत्त्व बताया तब उनका अभिप्राय था– शब्दार्थ के सौन्दर्य को अलम् (चरम सीमा) तक पहुंचाने वाला तत्त्व (अलङ्करण)। अलं क्रियते अनेन' इति अलङ्कारः। साथ ही भामह ने अलंकार में यह शक्ति उत्पन्न करने के लिए सामान्य के स्थान पर वक्र–उक्ति का महत्त्व स्वीकार किया और कहा –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।

दण्डी ने 'अलंकार' के अन्तर्गत सभो शोभाकर धर्मो को समेटा तो रीतिवादी वामन ने स्वयं सौन्दर्य को अलंकार का पर्यायवाची कह दिया। भामह के वक्रोक्ति संकेत को कुन्तक ने ग्रहण करके वक्रोक्ति–सिद्धान्त का विस्तार किया। शब्द शक्तियों का विवेचन जब तुरीया वृत्ति व्यंजना तक जा पहुंचा तो ध्वनितत्त्व ने आत्मा का स्थान छीनकर 'अलंकार' का अर्थ सीमित कर दिया फिर भो अलंकार–मीमांसा का क्रम आगे बढ़ता ही रहा। काव्य के शोभाकर धर्म और सौंदर्य–रूप अलंकार में भामह के आशय को समझा जाय तो अलंकार की काव्यात्मा में कोई बाधा नहीं आती।

10.6.1 अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि में अलंकारों का महत्त्व

'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति–सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाले आचार्य वामन ने शब्दार्थ युगल की अलंकृति को ही 'अलंकार' माना तथा 'काव्यालंकार संग्रह' में काव्य की उपादेयता सौंदर्य रूप अलंकार से ही प्रतिपादित करते हुए 31 अलंकारों का विवेचन भो किया। आचार्य कुन्तक का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' सिद्धान्त भामह के 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन का ऋणी है तथा वे अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। शब्दार्थ का 'अनलड्.कृति पुनः क्वापि' लक्षण करने वाले ध्वनि–प्रस्थापन परमाचार्य मम्मट तत्काल 'वृत्ति' में सर्वत्र सालंकारौ कहकर काव्य में अलंकार के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। रसवादी विश्वनाथ ने 82 और रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने 100 अलंकारों का विवेचन करके अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित किया। अग्निपुराण ने यहां तक कहा है कि 'अर्थालङ्कार–रहिता विधवेव सरस्वती' 'वासवदत्ता' गद्यकाव्य के रचयिता सुबन्धु ने नायिका के सौन्दर्य को साकार करते हुए यह उपमा दी है –

''सत्कवि–काव्य रचना मिवालङ्कारभूषिताम्।''

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने भो काव्य में अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है।

10.6.2 अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख चिन्तक

पांचवी–छठी शताब्दी ई. में साहित्यशास्त्र ने एक नई करवट ली। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय–प्रकरण में चार काव्यालंकारों का उल्लेख किया था। उनमें से यमक शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक एवं दीपक अर्थालंकार थे। आचार्य भामह ने पहली बार नाट्य जैसे दृश्यकाव्य से काव्य के श्रव्य रूप को पृथक् करते हुए 'काव्यालंकार' शीर्षक ग्रन्थ लिखा और 'काव्य' का लक्षण 'शब्दाथौ सहितौ काव्यम्'' किया। यह साहित्य शास्त्र का

युगान्तर था। भामह ने 'अलंकार' को काव्यात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए अलंकारा सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। भरतमुनि ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' कहकर नाट्य में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी किन्तु भामह एवं उनके उत्तरवर्ती दण्डी आदि आचार्यों ने रस को नाट्य का ही मुख्य विषय मानकर काव्य में अलंकार को अंगी के रूप में प्रधानता दी तथा रस, भाव आदि को अलंकारों में ही समाविष्ट करके एक नई चिन्तन–प्रक्रिया का श्री गणेश किया। आचार्य भामह इस चिन्तन के प्रथम पुरोधा थे। उनके बाद भो इस सम्प्रदाय के अनेक चिन्तक हुए जिनमे मुख्य थे : **भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित।**

1. **भामह (550–600 ई.)** : आचार्य भामह को अलंकार–सम्प्रदाय का प्राचीनतम एवं आद्य आचार्य माना जाता है। इनके पिता का नाम रक्रिलगोमिन् था। इससे यह मिथ्या धारणा चल पड़ी कि भामह बौद्ध थे जबकि उन्होंने बौद्धों के अपोहवाद की कटु आलोचना की है। डॉ.पी.वी. काणे दंडी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं किन्तु भामह ने अपनी ग्रन्थ–रचना दण्डी से पहले कर ली थी। अतः उनका समय षष्ठ शती ई. का मध्य भाग मानना उचित होगा। वे कश्मीर निवासी थे।

2. **दण्डी (650–700 ई.)** : महान् गद्यकार तथा दशकुमारचरितम् और अवन्तिसुंदरी कथा के रचयिता दण्डी महाकवि भारवि के पौत्र थे। बचपन में ही अनाथ होकर वे काञ्ची नगरी के पास जंगलों में भटका करते थे। युवावस्था में ये काञ्ची के पल्लव–नरेश नरसिंह वर्मा के सभा–कवि बने। राजशेखर ने इनके विषय में लिखा है :–

   'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।'

   इनका साहित्यशास्त्र–विषयक ग्रन्थ हैं– 'काव्यादर्श', जिसे दण्डी ने पल्लवराजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिए लिखा था। पल्लव राजा नरसिंह वर्मा का शासन काल 690 से 715 ई. पर्यन्त था। अतः वही दण्डी का भो स्थितिकाल था।

   दण्डी ने भामह के मतों का स्थान–स्थान पर खण्डन किया। इनका काव्य–लक्षण भो भामह से भिन्न है। काव्यशरीर में शब्दार्थ के सहित भाव को मानते हुए इन्होंने इष्टार्थक पदावली को काव्य शरीर कहा है – 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली।'

   गुण और रीतियों का वर्णन करते हुए भो इन्होंने भामह के अलंकार–विवेचन को आगे बढ़ाया और उन्हें 'काव्य के शोभाकर धर्म' कहकर उनका अर्थ विस्तार किया। अतः अलंकारवादी के रूप में वे भामह के बाद अलंकार–सम्प्रदाय के दूसरे महान् आचार्य हैं।

3. **उद्भट (800 ई.)** : कश्मीर के राजा जयापीड़ (779–813 ई.) की राजसभा के सभापति और प्रतिदिन एक लाख दीनार का वेतन पाने वाले प्रकांड प्रतिभा के धनी आचार्य उद्भट भामह की परम्परा के विद्वान् थे। उन्होंने 'काव्यालंकार' पर भामह–विवरण नाम की टीका लिखी जो अब उपलब्ध नहीं है। अलंकार–सम्प्रदाय के प्रसार हेतु उन्होंने 'अलंकार सार–संग्रह' नामक लघुकाय ग्रंथ की रचना की। आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्भट का उल्लेख किया है। आनंदवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (855–888 ई.) में हुए । अतः उद्भट का स्थितिकाल 800 ई. के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। उद्भट पर भामह के चिन्तन का प्रभाव होते हुए भो उन्होंने भामह का अनुकरण मात्र नहीं किया। उनका स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन उनकी रचना में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

4. **रुद्रट (850 ई.)** : आचार्य रूद्रट पहले अलंकार शास्त्री थे जिन्होंने काव्यालंकारो का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण किया, उन्हें कुछ निश्चित श्रेणियों में विभाजित किया तथा अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना भो की। मुख्य रूप से अलंकार वादी होकर भो उन्होंने अलंकार सम्प्रदाय और ध्वनि–सम्प्रदाय के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी

का कार्य किया। वे कश्मीर वासी और शैवमनावलम्बी थे। राजशेखर (920 ई.) ने अपने ग्रन्थ में वक्रोक्ति पर रूद्रट के मत को उदृत किया है। अतः उनका स्थितिकाल 850 ई. के आसपास रहा है। इस तरह वे ध्वनिकार आनंदवर्धन के समकालीन सिद्ध होते हैं। भामह के समान उनकी कृति का नाम भो 'काव्यालंकार' है।

5. **रुय्यक (1150 ई.)** : अलंकारों के निरूपण मे मेरुदण्ड के समान, राजानक उपाधि से विभषित, श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य के रचयिता मंखक के गुरु रूय्यक कश्मीर–निवासी थे तथा राजा जयसिंह ;1128–1148 ई.द्ध के शासनकाल में विद्यमान रहे। इनका दूसरा नाम रुचक था तथा ये अलंकारशास्त्री तिलक के द्वितीय पुत्र थे, जिन्होंने उद्भट के 'अलंकार–संग्रह' पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी।

   'अलंकारसर्वस्व' रुय्यक की सबसे प्राचीन रचना है। इन्होंने लगभग 11 ग्रंथों की रचना की थी जिसमें से उपलब्ध ग्रन्थों में 'साहित्य मीमांसा' काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है तथा 'सहृदयलीला' रूपसौन्दर्यविषयक लघु पुस्तिका है।

6. **जयदेव** : जयदेव अलंकार–सम्प्रदाय के लोकप्रिय विद्वान् थे। अत्यन्त सरल शैली के द्वारा इन्होंने काव्यशास्त्र के सभो विषयों को विद्यार्थियों के लिए सुगम बना दिया। अपनी रचनाओं में इन्होंने स्वयं को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बताया है। गागाभट्ट के अनुसार इनकी उपाधि और उपनाम पीयूषवर्ष था जिसका उल्लेख इन्होंने अपनी काव्यशास्त्रीय रचना 'चन्द्रालोक' के प्रारंभ में किया है – 'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।' ये 'गीत–गोविन्द' महाकाव्य के प्रणेता जयदेव से भिन्न थे। इनकी दूसरी रचना सुप्रसिद्ध नाटक 'प्रसन्नराघव' है जिसके श्लोक विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शाङ्र्गधर पद्धति (1361–63) में उद्धृत किये गये हैं। अतः जयदेव का स्थितिकाल 1250 ई. के आसपास माना जा सकता है। स्वयं को 'कौण्डिन्य कवीन्द्र' कहकर जयदेव ने कुण्डिनपुरवासी होने का प्रमाण दिया है जो विदभ में स्थित है।

7. **अप्पय दीक्षित (1600–1650 ई.)** : साहित्यशास्त्र – लेखन के उत्तरवर्ती युग के पण्डितों में अलंकार–सम्प्रदाय के समर्थक अप्पय दीक्षित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वे वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण आदि विविध शास्त्रों के विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। कहा जाता है कि इन्होंने 104 ग्रंथों की रचना की थी। जिनमें से अनक ग्रंथ अभो उपलब्ध नहीं हैं। अलंकार–निरूपण विषयक ग्रंथों में इनकी तीन कृतियां विख्यात हैं – (1) वृत्तिवार्तिक (2) चित्रमीमांसा तथा (3) कुवलयानन्द।

   भारद्वाज कुल की याज्ञिक परम्परा में उत्पन्न अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज था और पितामह आचार्य दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध थे। उस समय दिल्ली में मुगल बादशाह शाहजहाँ का शासन था। उसकी राजनर्तकी के साथ सम्बन्ध होने के कारण पंडितराज जगन्नाथ को अप्पय दीक्षित ने वाराणसी में जाति–बहिष्कृत कर दिया था, ऐसी किंवदन्ती है। इस कारण से जगन्नाथ अप्पय दीक्षित के कट्टर विरोधी बन गये थे और उनके ग्रंथ 'चित्रमीमांसा' के खण्डन में 'चित्रमीमांसा–खंडन' लिखा था। अतः सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित का स्थिति काल 1600 से 1650 ई. के मध्य में रहा होगा।

   मुख्यतः यही सात आचार्य अलंकार–सम्प्रदाय के प्रतिबद्ध चिन्तक और विवेचक विद्वान् थे जिन्होंने काव्य की सौन्दर्य–वृद्धि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक अलंकार को माना तथा छठी से सत्रहवीं शताब्दी तक ग्रन्थ लिखकर अपने विचार की ध्वजा फहराते रहे। इस समयावधि में रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य को काव्यात्मा मानने वाले सम्प्रदायों का उद्भव हुआ जिनमें अलंकार की वरीयता कम होती गई किन्तु उन सम्प्रदायों के चिन्तकों ने भो अलंकारों के लक्षण, वर्गीकरण, विस्तार तथा तात्विक विवेचन में भागीदारी की। इनमें रीति सम्प्रदाय के वामन, रसवादी भोज, ध्वनिवादी मम्मट, रसात्मक वाक्य की काव्यता के समर्थक विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय है।

10.6.3 अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख सात चिन्तक आचार्यों के परिचय के बाद उनके प्रमुख ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत हैः–

1. **भामहकृत 'काव्यालंकार'** : भामह ने नाट्यशास्त्र से काव्य शास्त्र की धारा को पृथक करते हुए 'काव्यालंकार' ग्रन्थ लिखा तथा काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया – 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' उन्होंने अलंकार को काव्य का आत्मा कहते हुए अलंकार सम्प्रदाय का सूत्रपात किया तथा वक्रोक्ति को अलंकार का मूल बताया –

   'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः कोऽलङ्कारोऽनयां विना। (काव्यलंकार 2/85) इनसे पूर्व भरतमुनि ने दस गुण प्रतिपादित किये थे। भामह ने माधुर्य, ओज तथा प्रसंगाद की गुणत्रयी में उनका समावेश कर लिया। साथ 'दशविध काव्यदोषो' का विवेचन करते हुए 'काव्यालंकार' लिखा।

   काव्यालंकार में छः परिच्छेद तथा 398 श्लोक हैं – 'उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वा।' प्रथम परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण एवं भदों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में गुणत्रय, तृतीय में 38 अलंकार तथा चतुर्थ में दस दोषों का वर्णन है। पंचम परिच्छेद में 'न्याय विरोधी दोष' की चर्चा तथा षष्ठ में सौशब्द्य (व्याकरण शुद्ध पद) का विवेचन किया गया है। 'काव्यालंकार' पर कोई टीका सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने भामह को सम्मानपूर्वक अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

2. **दण्डीकृत काव्यादर्श** : दण्डी के विख्यात तीन प्रबन्धों में 'काव्यादर्श' उनकी सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय कृति है। गद्य कवि के रूप में 'दण्डिनः पदलालित्यम्' विख्यात रहा है। किन्तु 'काव्यादर्श' दण्डी के आचार्यत्व का प्रमाण है। डॉ. पी.वी. काणे इसे अंशतः अलंकार–सम्प्रदाय और अंशतः रीति सम्प्रदाय का समर्थक ग्रंथ मानते हैं किन्तु दण्डी ने न तो 'रीति' पद का प्रयोग ही किया और न ही वामन की तरह रीतियों का विवेचन। अतः निस्सन्देह वे अलंकार–सम्प्रदाय के ही विचारक थे। रस के माधुर्य से परिचित होते हुए भो उन्होंने काव्य के शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' कहा –

   'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

   तथा सरस कथन को भो 'रसवद् अलंकार' की कोटि में माना –

   'रसवद् रसपेशलम्'।

   'काव्यादर्श' चार परिच्छेदो में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य लक्षण, काव्य के भद, भाषाओं के प्रकार वैदभ और गौड़ मार्ग, दशविध गुण, तथा तीन काव्य हेतुओं का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार–लक्षण के बाद 35 अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में यमक अलंकार का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में 16 प्रकार की प्रहेलिकाओं तथा 63 श्लोको में दशविध दोषों का वर्णन है। काव्यादर्श श्लोकबद्ध रचना है जिनकी संख्या 660 है। दण्डी की शैली सरल और सारगर्भित है। भामह द्वारा वर्णित 32 अलंकारों को यथावत् मानकर दण्डी ने पांच नवीन अलंकारों की कल्पना की है। 'काव्यादर्श' की साहित्यचार्यों में लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि इस पर नौ टीकाएं लिखी गई।

3. **उद्भट प्रणीत 'अलंकार–सार संग्रह** – आचार्य उद्भट के इस ग्रन्थ को डॉ. व्हूलर ने कश्मीर से खोज निकाला था और इसका प्रथम प्रकाशन 1897 ई. में कनल जैकब के अंग्रेजी अनुवाद के साथ रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में हुआ। इस पर लिखी प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति के साथ पण्डित मंगेश रामकृष्ण तैलंग के सम्पादन म यह ग्रंथ 1915 ई. में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित किया गया। भामह से प्रभावित होकर उद्भट ने 'भामह–विवरण' नाम से 'काव्यालंकार' पर टीका लिखी तथा अलंकार सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अलंकार–सार सड्.ग्रह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है। इसमें 69 कारिकाएं, 41 अलंकारों का 90 उदाहरणों के साथ विवेचन है। टीकाकर प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ने ये उदाहरण अपनी काव्यकृति 'कुमारसम्भव' से लिये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अलंकारों का ही विवेचन है जिनका क्रम भामह के अनुसार दिया गया है किन्तु अनेक स्थानों पर भामह से मतभद रखते हुए अपने मौलिक विचार भो प्रस्तुत किये हैं। अलंकार–सारसंग्रह पर दो टीकाएं लिखी गई है – (1) प्रतिहारेन्दु राज की 'अलंकार–सार–लघुविवृत्ति (950 ई.) तथा (2) राजानक तिलक रचित 'उद्भट–विवेक (1100 ई.)। उद्भट श्लेष अलंकार को सर्वप्रधान मानते हैं। उपमा के भदों का व्याकरण के आधार पर विस्तृत निरूपण उद्भट ने प्रारंभ किया था। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनका स्मरण सम्मानपूर्वक किया है।

4. **रुद्रट रचित काव्यालंकार** – अलंकार–सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य रुद्रट ने भामह के समान ही अपने ग्रन्थ का नामकरण किया किन्तु उन्होंने अर्थालंकारो के लक्षण से पूर्व उनके चार मूल तत्त्व खोज निकाले – वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इस वैज्ञानिक आधार पर उन्होंने 57 अलंकारों की व्यवस्था करते हुए आर्या छंद में 'काव्यालंकार' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है जिनमें कुल 734 पद्य है। रुद्रट ने काव्य के प्रायः सभो अंगों का वर्णन करते हुए भो गुणों पर कुछ नहीं लिखा, यह आश्चर्य है। उनका नायिका भद–विवेचन परवर्ती शास्त्रकारों में विशेष लोकप्रिय हुआ। अलंकारों की संख्या–वृद्धि में रुद्रट ने 31 मौलिक अलंकार जोड़े हैं तथा श्लेष के दस भद गिनाये है। नौ प्रसिद्ध रसों के अतिरिक्त रुद्रट ने 'प्रेयस्' नामक दशम रस का प्रतिपादन किया है।

   काव्यालंकार पर तीन टीकाएं लिखी गई – (1) वल्लभदेव की 'रुद्रटालंकार टीका (2) नमिसाधु 1068–69) की टीका तथा (3) आशाधर कृत टीका। इनमें नमिसाधु की टीका संक्षिप्त, विषयानुकूल तथा विशेष प्रसिद्ध है।

5. **रुय्यक–प्रणीत 'अलंकार–सर्वस्व'** – 'अलंकार–सर्वस्व' राजानक रुय्यक (रुचक) की प्रौढ़ कृति है। इससे पूर्व उन्होंने काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे थे जिनमें 600 श्लोक और 8 प्रकरणों में विभक्त 'साहित्यमीमांसा' का स्वयं उन्होंने उल्लेख किया है। यद्यपि रुय्यक को ध्वनिवादी माना जाता है क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ के 18 सूत्रों में भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, कुन्तक, महिमभट्ट तथा आनंदवर्धन के मतों का सारांश देते हुए ध्वनिकार के मत की पुष्टि की है। किन्तु उनके 'अलंकार–सर्वस्व' में 5 शब्दालंकारो तथा 70 अर्थालंकारो का, विशिष्ट प्रकार के वर्गीकरण के अंतर्गत वर्णन किया गया है तथा सात मौलिक अलंकारों की उद्भावना की गई है। सूत्र, वृत्ति और उदाहरण की प्राचीन शैली में रचित यह नाम से ही नहीं, विषय–प्रतिपादन की दृष्टि से भो अलंकार–सम्प्रदाय का पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

   इस ग्रन्थ पर जयरथ ने विमर्शिनी टीका तथा समुद्रबंध की 'विवरण' टीका लिखी जिनमें से जयरथ की टीका विद्वतापूर्ण मानी जाती है।

6. **जयदेव कृत चन्द्रालोक** – पीयूषवर्ष जयदेव द्वारा लिखित 'चन्द्रालोक 350 अनुष्टुप् छंदों में निबद्ध तथा दस मयूखो में विभक्त काव्यशास्त्र के सिद्धान्त–निरूपण से संबंधित लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी शैली सुगम और स्पष्ट, भाषा प्रवाहमयी एवं मधुर है जो नवशिक्षितों के लिए भो यह सहज ग्राह्य है। इसके प्रथम मयूख में काव्य लक्षण, काव्यहेतु एवं त्रिविध शब्द प्रकार, द्वितीय मयूख में शब्द, अर्थ वाक्य के दोष, तृतीय में काव्य–सौंदर्य के उपाय, चतुर्थ में दस गुणों का वर्णन है। पांचवे मयूख में चार शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का मंगलाचरण निरूपण है। छठे मयूख में रस, भाव, रीति वृत्ति की समीक्षा, सातवे में व्यंजना और ध्वनि के भद, आठवें में गुणीभत्व्यंग्य के भद, नवम में लक्षणा तथा दशम मे अभिधा का विवेचन हुआ है। अलंकारों के निरूपण में जयदेव ने रुय्यक का अनुकरण किया है –

ध्वनि–विरोधी जयदेव ने मम्मट के काव्य–लक्षण ;तददोषौशब्दार्थौद्ध पर जो कटाक्ष किया है, वह काफी चर्चित रहा है –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृति।।

चन्द्रालोक पर छः टीकाएं उपलब्ध होती हैं – (1) प्रद्योतन भट्ट की शारदागम टीका (1583 ई.) (2) वैद्यनाथ पायगुण्ड की रमां टीका (1800 ई.) तथा (3) गागाभट्ट की सुधा टीका (1700 ई.) ये तीनों प्रकाशित हैं, शेष तीन अभो पांडुलिपि रूप मे ही है।

7. **अप्पय दीक्षित रचित ग्रन्थत्रयी** – अप्पय दीक्षित ने अलंकार शास्त्र विषयक तीन ग्रन्थ लिखे – (1) वृत्तिवार्तिक (अभिधा एवं लक्षणा वृत्ति–विवेचन पर) (2) चित्रमीमांसा (केवल अर्थालंकार निरूपण पर अपूर्ण कृति) तथा (3) कुवलयानन्द (123 अलंकारों का विवेचन), जिसे इन्होंने राजा वेंकटपति के अनुरोध पर लिखा था –

नियोगाद् वेंकटपतेर्निरूपाधिकृपानिधेः
अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।।

'कुवलयानंद' अलंकारों का छात्रोपयोगी संग्रह–ग्रन्थ मात्र है। चित्रमीमांसा में अप्पय दीक्षित ने उपमा को 22 अलंकारो का आधार बताते हुए उसे 'शैलूषी' को काव्यमयी उपमा दी है।

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

इस प्रकार अलंकार सम्प्रदाय अप्पय दीक्षित की रचनाओं पर आकर विराम लेता है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

'अलंकार' – शब्द सामान्यतः 'आभूषण' का वाचक है, जिसे धारण करने से वनिता की सहज सुन्दरता में वृद्धि होती है। काव्य में भी अलंकार उस शोभावर्धक तत्त्व का नाम है जो शब्दार्थमय काव्य की सौन्दर्यवृद्धि करता है।

'काव्यशास्त्र' – समालोचना के परिचायक है। अतः समालोचना (क्रिटिसिज्म) को सीधे काव्य से जोड़ने पर 'काव्यशास्त्र' अभिधान प्रचलित और लोकप्रिय हुआ किन्तु काव्यशास्त्रियों ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्द और अर्थ के 'साहित्य' (सहितभाव) को काव्य की संज्ञा दी।

'ब्रह्मास्वाद – शब्द ब्रह्म है, 'बृंह्' धातु का अर्थ है – विस्तार करना। भर्तृहरि कहते हैं कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति भी परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। शायद इसी भाव से भट्टनायक ने काव्य की चरम रसानुभूति को 'ब्रह्मास्वाद–सहोदर' कहा था।

व्यापार के दो रूप हैं – उक्तिवैचित्र्य और भुक्तिव्यापार।

नाट्यरस – भरत ने आठ नाट्यरस निर्धारित किये थे – श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, भयानक्, बीभत्स, रौद्र और करुण जिनके क्रमशः स्थायी भाव हैं – रति, हास, उत्साह, विस्मय, भय, जुगुप्सा, क्रोध और करुणा। शान्तरस नवम रस है जो विवाद का विषय रहा है।

रीति (रीङ्.गतौ) – गुणों के गमन (अभिव्यक्ति) का मार्ग है – रीति (रीङ्.गतौ) जिसका लक्षण उन्होंने किया– 'विशिष्टा पदसंघटना रीतिः'।

ध्वनि काव्यात्मा – है। इसके मुख्य तीन भेद है – वस्तु, अलंकार और रस।

वक्रोक्ति–सिद्धान्त – आचार्य कुन्तक ने भामह के ''सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कथन के आधार पर वक्रोतिवैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते। उनका मत था कि शब्दार्थ से जो काव्य शरीर निष्पन्न होता है, उसमें दो विशेषताएं होनी चाहिए– एक तो उस उक्ति में प्रसिद्ध वचन–व्यापार से भिन्न वक्र ;विचित्रद्ध अभिधा हो, दूसरे वह लोकोत्तर उक्ति सहृदय को आह्लादित करने में समर्थ हो।

10.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. 'अलंकार' का लक्षण क्या ह ?
2. 'साहित्यशास्त्र' नाम का आधार बताइए।
3. अलंकार सम्प्रदाय का इतिहास लिखिए।
4. 'रसो वै सः' इसकी व्याख्या कीजिए।
5. काव्य शास्त्र – परम्परा में भामह के अवदान का विश्लेषण कीजिए।
6. अलंकारो के वर्गीकरण के मूल तत्त्वों पर टिप्पणी लिखिए।
7. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' इस उक्तिका विवेचन कीजिए।
8. अलंकार–सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय दीजिए।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
   (1) सौन्दर्यमलङ्कारः
   (2) हारादिवदलङ्काराः
   (3) उपमैका शैलूषी
   (4) शोकः श्लोकत्वमागतः

10.9 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने संस्कृत वांड्मय में साहित्य शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। साहित्य शास्त्र की समीक्षा के प्रमुख में इस अलंकार, रीती, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य नामक छ: संप्रदायों को जाना। भारतीय काव्य शास्त्रियों के काव्य की आत्मा के संदर्भ में भिन्न-भिन्न रिवाजों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालंकारः (भामह), व्या. डॉ. रमणकुमार शर्मा, विद्यानिधि. प्रकाशन, दिल्ली, 1994.
2. काव्यादर्श, कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1986.
3. काव्यालंकार सूत्र, रेवाप्रसाद द्विवेदी,चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977.
4. काव्यालंकार,हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2002.
5. जयदेव–कृत 'चन्द्रालोकः'कृष्णमूर्ति त्रिपाठी, चौखम्भा सुरभारती, वाराणसी, तृ.सं. 1984.
6. अप्पयदीक्षित–प्रणीत कुवलयानन्दः, भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा सुरभारती, वाराणसी, 2013.
7. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे,मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली,1966.

इकाई 11

रस सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक औचित्य सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

11.5.1.2 भक्ति रस का खण्डन
11.5.1.3 वात्सल्य रस का खण्डन
11.5.2 रसों के भद–उपभद
11.5.2.1 शृङ्गार रस के भद
11.5.2.2 वीर रस के भद
11.5.3 आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित रसादि की सलंक्ष्यक्रमता का पण्डितराज द्वारा खण्डन
11.5.4 रस विरोध
11.5.4.1 विरोध–परिहार के उपाय
11.5.4.2 ज्ञान विरोध परिहार
11.5.4.3 रस के व्यञ्जक (सामान्य मत)
11.5.4.4 रस के व्यञ्जक (प्राचीन मत)
11.5.4.5 रस के व्यञ्जक (नवीन मत)
11.5.4.6 पण्डितराज जगन्नाथ का मत
11.5.5 भाव–ध्वनि
11.5.5.1 रसाभास
11.5.5.2 भावाभास
11.5.5.3 भावशान्ति
11.5.5.4 भावशबलता
11.6 रस – स्वरूप निरूपण (विभिन्न आचार्यो के अनुसार)
11.6.1 आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र)
11.6.2 भामह (काव्यालङ्कार)
11.6.3 दण्डी (काव्यादर्श)
11.6.4 उद्भट
11.6.5 वामन
11.6.6 रुद्रट (काव्यालङ्कार)
11.6.7 भट्टलोल्लट
11.6.8 श्रीशङ्कक
11.6.9 आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)
11.6.10 भट्टतौत. काव्यकौतुक)
11.6.11 महिम्मभट्ट (व्यक्ति विवेक)
11.6.12 मम्मट (काव्यप्रकाश)
11.7 औचित्य सम्प्रदाय – प्रमुख गन्थ एवं चिन्तक
11.7.1 महाकवि क्षेमेन्द्र का परिचय
11.7.2 महाकवि क्षेमेन्द्र के प्रमुख ग्रन्थ
11.8 औचित्य सिद्धान्त
11.8.1 ओचित्य क्या है
11.8.2 औचित्य की परिभाषा
11.8.3 औचित्य के प्रमुख क्षेत्र
11.8.4 औचित्य काव्य के प्राण के रूप में
11.8.5 काव्य में औचित्यपूर्णता और औचित्यहीनता
11.9 औचित्य स्थापना से पूर्ववर्ती आचार्य एवं उनके मत
11.9.1 आनन्दवर्धन
11.9.2 भरतमुनि
11.9.3 पूर्व आलङ्कारिक
11.9.4 भामह और दण्डी
11.10 औचित्य का विभिन्न समप्रदाओं एवं काव्यशास्त्रीय विधाओं से सम्बन्ध

11.0 उद्देश्य

आप एम.ए. (पूर्वार्द्ध) के (संस्कृत) चतुर्थ प्रश्न–पत्र की ग्यारहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में रस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तकों को आधार बनाकर रस की निष्पत्ति की गई है । इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- रस की उत्पत्ति कैसे होती है, उसके कितने भद होते है ? यह जान सकेंगे ।
- रस के प्रवर्तक आचार्य कौन हैं और उनका दिया रस–सूत्र और रस–स्वरूप जान सकेंगे ।
- प्रमुख नौ रसों एवं उनके स्थायी भावों के बारे म जान सकेंगे ।
- रस स्वरूप निरूपण के विषय में विभिन्न आचार्यो के मत जान सकेंगे ।
- औचित्यसिद्धान्त क्या है ? उसके प्रमुख भद एवं क्षेत्रों को जान सकेंगे ।
- औचित्य के विषय में विभिन्नाचार्यों के मत एवं अन्य सम्प्रदायों से औचित्य के सम्बन्ध के बारे में जान सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

साहित्य शास्त्र के पाठकगण साहित्य शास्त्र के प्रमुख छः सम्प्रदायों से सामान्यरूप से तो परिचित होंगे ही । वे छः सम्प्रदाय है

1. रस सम्प्रदाय
2. रीति सम्प्रदाय
3. ध्वनि सम्प्रदाय
4. वक्रोक्ति सम्प्रदाय
5. औचित्य सम्प्रदाय
6. अलङ्कार सम्प्रदाय

प्रस्तुत इकाई में हम रस सम्प्रदाय एवं औचित्य सम्प्रदाय के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे ।

11.2 पण्डितराज जगन्नाथ की रस–मीमांसा

11.2.1 रस निष्पत्ति –

नाटक में सहृदयों को रस कैसे मिलता है इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' से मिलता है। इस सूत्र के प्रमुख व्याख्याता चार हुए :–

1) भट्टलोल्लट
2) शङ्कुक
3) भट्टनायक

4)	अभिनवगुप्त

इन चार व्याख्याताओं में से अभिनवगुप्त में ही पण्डितराज की सर्वाधिक आस्था है।

11.2.1.1 भट्टलोल्लट का मत –उत्पत्तिवाद

रस – वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति

निष्पत्ति – तादृश रति का अलौकिक प्रत्यक्ष

भरत के रस सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट 'उत्पत्तिवाद' के मानने वाले हैं। इस वाद के अनुसार भरत के रस सूत्र का अर्थ होगा– विभावानुभावादि का नट के साथ सम्बन्ध (संयोग) होने से रति इत्यादि का नट पर आरोप ;निष्पत्तिद्ध। इनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य नटादि में रस की उत्पत्ति होती है, उनमें भो विभाव नायिका आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में रस वही रति है जो वास्तविक दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला को देखते हुए उत्पन्न हुई थी। किन्तु प्रश्न ये उठता है कि दुष्यन्त के हृदय में उत्पन्न होने वाली रति से सामाजिकों को आनन्द कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में लोल्लट कहते है कि उस रति का सामाजिकों को अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। यही अलौकिक प्रत्यक्ष से ज्ञात हुई रति सहृदयों के लिए रस बन जाती है।

इस दृष्टि से रस की निष्पत्ति के दो अर्थ प्रकट होते हैं :–

(1) अलौकिक प्रत्यक्ष

(2) उत्पत्ति

यदि सामाजिकों के पक्ष से देखेगें तो रस की निष्पत्ति अलौकिक प्रत्यक्ष से होगी और अगर दुष्यन्त (नायक) के पक्ष से देखेगें तो रस निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' से होगा। यहाँ दुष्यन्तपक्षीय (नायक पक्षीय) रति की उत्पत्ति को अपनाते हुए ही इनके मत को उत्पत्तिवाद कहा है।

इस स्थल में भो सामाजिक चक्षु से केवल दुष्यन्त को ही (दुष्यन्त रूपी नट को ही) देखता है रति को नहीं, परन्तु फिर भो उसे रति का ज्ञान हो जाता है – उसी अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा। अतः ''अयं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान् ।'' इस तरह से उसे रस का बोध होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान है यर्थाथ ज्ञान है। अर्थात नट में शकुन्तलाविषयक रति की वास्तविक स्थिति सिद्ध हो जाएगी क्योंकि सामाजिकों के सम्मुख तो नट ही रहता है दुष्यन्त नहीं । इसका अर्थ यह है कि यद्यपि सामाजिक नट को ही देखता है किन्तु कुशल अभिनय, विभावादिभावों के कारण वह उसमें ''यह दुष्यन्त है'' इस प्रकार भम करता है नट को ही वह दुष्यन्त समझता है और इसी से वह शकुन्तला विषयक रति नटगत्वेन अर्थात् नट से ही अवभासित होती है। यहाँ रतिबोध प्रत्यक्षात्मक है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्षात्मक है। क्योंकि अलौकिक प्रत्यक्ष में विषय का होना आवश्यक नहीं है। वह तो स्मृतिरूप होता है ओर स्मृति अविद्यमान पदार्थ की ही हो सकती है अतः रति के न रहते हुए भो उसका प्रत्यक्ष बोध होता है ।

11.2.1.2 श्री शङ्कुक का मत – (अनुमितिवाद)

भट्टलोल्लट की उपर्युक्त व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौण रूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी है परन्तु सामाजिकों को रसानुभ्ति क्यों नहीं होती इस विषय पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

दूसरी बात अनुकार्य दुष्यन्त शकुन्तला आदि अब तो इस जगत में नहीं है । अतः इस समय किए जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है । इसलिए उनके अनुकर्त्ता नट में भो रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

इन्हीं दोषों को ध्यान में रखकर ही न्यायसिद्वान्त के अनुयायी श्री शङ्कुक ने भरत के रस सूत्र की दूसरे प्रकार से व्याख्या की । इसमें उन्होंने सामाजिकों के साथ सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया। श्री शङ्कुक के अनुसार रस का बोध अनुमान द्वारा

होता है इसलिए इनके द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र की व्याख्या को अनुमितिवाद कहा गया है। शङ्कुक के मत में रस – वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति,

निष्पत्ति – उस प्रकार की रति की अनुमिति

इनके अनुसार वास्तविक दुष्यन्त में रहने वाली रति ही रस है परन्तु उसका बोध अलौकिक प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान के द्वारा होता है।

लोक जीवन में जिस प्रकार 'पर्वतोवह्निमान्' यह बोध अनुमान द्वारा होता है उसी प्रकार नाट्य में भो 'शकुन्तला विषयक रतिमान् यह दुष्यन्त हैं (दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयक रतिमान्) यह ज्ञात होता है। सामाजिकों की दृष्टि से निष्पत्ति का यहाँ पर अर्थ 'अनुमिति' है अर्थात् अनुमान से रस का बोध। इसी कारण यह वाद 'अनुमितिवाद' कहा जाता है।

यदि पक्ष, साध्य और हेतु की दृष्टि से देखें जिससे की अनुमान सिद्ध होता है – तो यहाँ

पक्ष है – नट अर्थात् अयं दुष्यन्तः

साध्य है – शकुन्तला विषयक रति और

हेतु है – विभाव–अनुभाव आदि भाव

यहाँ नट में शकुन्तलाविषयक रति नहीं रहती है किन्तु उस रति के न रहने पर भो अनुमान होता है क्योंकि अनुमान होने के लिए विषय का सम्मुख रहना आवश्यक नहीं होता अविद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता किन्तु अनुमान तो हो ही सकता है।

शङ्कुक के अनुसार भरत के रस सूत्र का अर्थ होगा – '''कृत्रिम होते हुए भो अकृत्रिम रूप में ग्रहण किये गये विभावादि से अनुमान करके (संयोगात्) रत्यादि की अनुमिति ही रस की निष्पत्ति है।''

भट्टनायक द्वारा भट्टलोल्लट व श्रीशङ्कुक द्वारा प्रतिपादित रस सूत्र की व्याख्या का खण्डन

भट्टलोल्लट ने रसनिष्पत्ति की व्याख्या रस उत्पत्ति व शङ्कुक ने 'रस की प्रतीति अथवा अनुमिति' के रूप में की है । भट्टनायक ने इन दोनों मतों को अस्वीकार किया तथा कहा कि रस न तो उत्पन्न होता है और न ही उसकी अनुमिति होती है ।

रस–उत्पत्ति का खण्डन (भट्टलोल्लट के मत का खण्डन)

भट्टनायक कहते हैं कि 'रस–निष्पत्तिः' इसका अर्थ यदि रस–उत्पत्ति से लें तो रस की उत्पत्ति किसमें होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है – रस उत्पत्ति वास्तविक रामादि में, अथवा उसका अभिनय करने वाले नट में अथवा सामाजिक या सहृदय में होगी ।

भट्टलोल्लट मानते है कि रस की उत्पत्ति रामादि में होगी ऐसा मानने पर तो यह सहृदय के लिए आस्वाद्य नहीं हो सकती क्योंकि यह रामादि के लिए आस्वाद्य है । क्योंकि जो रति सहृदय (सामाजिक) में विद्यमान रहे, उसी का आस्वाद बोध उसे होगा, अन्य व्यक्ति में स्थित रति का नहीं ।

और यदि रसोत्पत्ति नट में मानी जाये तो पूर्व के समान वह रस सहृदयों (सामाजिकों) के लिए अनास्वाद्य होगी । और रस उत्पत्ति का तीसरा पक्ष–सहृदय (सामाजिक स्वयं) सहृदय में भो रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उनके प्रति सीता–शकुन्तला सदृश्य विभावादि कारण नहीं है ।

शकुन्तलादि में रमणीयत्व होन से वह सामाजिक मात्र के प्रति विभाव हो सकती है और उससे सहृदय (सामाजिक) में रति भो उत्पन्न हो सकती है – किन्तु नारीत्व मात्र विभाव से रति उत्पन्न होना व्यवहारतः असिद्ध है । शकुन्तला आदि के प्रति सहृदय का यह ज्ञान होता है कि वह अगम्या है अतः उसके प्रति उत्पत्ति असम्भव है ।

सहृदय का अपने को दुष्यन्त से अभिन्न मान लेना यदि प्रतिबन्धक माना जाये तो वह भो ठीक नहीं क्योंकि सहृदय व दुष्यन्त में इतना अधिक अन्तर है कि उन दोनों को एक मानना असम्भव है ।

अतः रस की उत्पत्ति किसी भो प्रकार से सम्भव नहीं है ।

श्री शङ्कुक के अनुमितिवाद का भट्टनायक द्वारा खण्डन –

रस–प्रतीति या रस–अनुमिति –

रस की प्रतीति होती है इस प्रकार मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार इसे किस प्रकार की प्रतीति माना जाये? शब्द–जन्य होने के कारण इसे यदि शाब्दी प्रतीति माना जाये तो इसमें कोई चमत्कारिता नहीं होगी।

यदि इसे अलौकिक प्रत्यक्षात्मक प्रतीति माने तो सुरभि की स्मृति के समान रति आदि की स्मृति (अलौकिक प्रत्यक्ष) में भो कोई आनन्द उत्पन्न नहीं होगा।

और यदि शुद्धस्मृत्यात्मक प्रतीति भो मानी जाये तो यह भो संभव नहीं है क्योंकि शुद्धस्मृति में तो विषय पूर्वानुभ्त होता है । किन्तु रति आदि का सहृदय को पूर्वानुभव नहीं होता है।

अतएव भट्टनायक के मत में रसनिष्पत्ति न तो रसोत्पत्ति है और न ही रस की प्रतीति है। अतः फिर रसास्वाद कैसे होता है? इसके लिए हम भट्टनायक का मत जानेंगे ।

11.2.1.3 भट्टनायक का मत – (भुक्तिवाद)

भट्टनायक को सांख्यानुयायी माना जाता है। इनके द्वारा प्रतिपादित रससूत्र की व्याख्या को 'भक्तिवाद' माना गया है। इन्होंने रामादि के स्थान पर सामाजिक में रहने वाली रति को रस माना है और इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की स्थापना की है। काव्य में रहने वाले अभिद्या व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापारों को भो स्वीकार किया है।

भावकत्व – साधारणीकरण रूप व्यापार। इनके द्वारा अभिधा से प्रतिपादित सम्पूर्ण काव्यार्थ अर्थात् विभावानुभावादि भावों को शकुन्तलात्व, सीतात्व आदि विशेष परिचयों द्वारा आवृत्त कर दिया जाता है।

भोजकत्व – इसके द्वारा सहृदय चिद्रूप और आनन्द रूप अनावृत्त हो जाता है ।

भट्टनायक के मत में रस निष्पत्ति – सर्वप्रथम काव्यात्मक शब्द से शकुन्तलादि अर्थों का अभिधावृत्ति द्वारा उपस्थापन होता है, तत्पश्चात् अभिधा द्वारा ही शकुन्तलादि अर्थों का साधारणीकरण कर दिया जाता है । यह साधारणीकरण भावकत्व व्यापार द्वारा किया जाता है । साधारणीकरण से तात्पर्य है कि–शकुन्तला में रहने वाले शकुन्तलात्व को छिपाकर सामान्य रूप से रमणीयत्वेन प्रस्तुत करना। विभावानुभावादि भावों का यह सामान्य रूप ही वास्तव में रस के अनुकूल है। रसानुकूल धर्मों के पश्चात् ही 'भोजकत्व' नामक तृतीय व्यापार प्रवृत्त होता है, इसके फलस्वरूप ही सहृदय का आनन्दात्मक स्वरूप प्रकाशित होता है, इस चिद्रूप के प्रकाशित होने पर ही उसके निकट विद्यमान रति भो प्रकाशित हो जाती है। रति का यह प्रकाश ही रति–भोग है।

इस प्रकार भट्टनायक ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक के चैतन्य का उद्घाटित हो जाना तथा उससे उसकी अपनी रति का प्रकाशित होना ही वास्तव में रस है।

इस दृष्टिकोण के आधार पर भट्टनायक के अनुसार रस सूत्र के अर्थ हैं – विभाव–अनुभाव आदि भावों के रत्यादि से उपहित साधारणीकरण जो कि साधारणीकरण रुप भावकत्व व्यापार के द्वारा प्रकाशित है उसका सत्वोद्रेक से प्रकाशित आनन्दरूप भोजकत्व का विषय हो जाना अर्थात् साक्षात्कार हो जाना ही रस निष्पत्ति है।

अन्य शब्दों में भट्टनायक के अनुसार रस की निष्पत्ति न अनुकार्य रामादि में और न अनुकर्ता नटादि में होती है। अनुकार्य और अनुकर्त्ता दोनों उदासीन रहते हैं। उनको रसानुभ्ति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभ्ति तो सामाजिक को होती है। भट्टनायक ने अपने 'भक्तिवाद' की स्थापना के लिए शब्द में पूर्व से स्वीकृत अभिधा व लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' व 'भोजकत्व' के मत में अभिधा व लक्षणा शक्ति के द्वारा जो काव्य का अर्थ उपस्थित होता है उसे भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सहृदय के उपयोग हेतु बना दिया है। भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण अर्थात् अभिधा के द्वारा तो विषयवस्तु केवल व्यक्तिविशेष के लिए

होती है किन्तु भावकत्व के द्वारा कथा का परिष्कार कर उसमें व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर दिया जाता है जिससे सामाजिक उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और वह सामाजिक अपनी रूचि व कथा के अनुरूप स्वयं को कथा का एक पात्र समझ लेता है। यह प्रभाव शब्द के अभिधा, लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार 'भावकत्व' के कारण होता है।

जब दूसरे व्यापार भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण हो जाते हैं तब शब्द का तीसरा व्यापार 'भोजकत्व' कार्य करता है वह सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक भोग कराता है । यह भट्टनायक का 'भक्तिवाद' है ।

11.2.1.4अभिनवगुप्त का मत – (अभिव्यक्तिवाद)

अभिनवगुप्त द्वारा अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की गयी है । वस्ततः इनका मत भट्टनायक के मत के समान ही है किन्तु फिर भो कुछ वैलक्षण्य है । इनके मत में

रस – 1. चिद्विशिष्ट रति (सामाजिक की रति)
2. रति विशिष्ट चित् (सामाजिक का चित्)

निष्पत्ति – 1. चैतन्य के द्वारा उस रति का प्रकाश
2. चैतन्य के द्वारा उस प्रकार के रति विशिष्ट चैतन्य का प्रकाश

अभिनवगुप्त का यह मत पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर प्रतिपादित है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है । इन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकात रसानुभ्ति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है । इनके अनुसार मूलसंवेग या रति आदि स्थायी भाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है । वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मस्वाद के सदृश परमानन्द में अनुभ्त होता हैं।

अभिनवगुप्त का यह मत अद्वैत वेदान्तदर्शन पर आधारित है इन्होने शब्द में अभिद्या – लक्षणा तथा तृतीय व्यञ्जना व्यापार को भो माना है ।

चिद्विशिष्ट रति – वास्तविक अर्थों में रस पद का तात्पर्य सहृदय की रति में ही है। वेदान्तदर्शन के अनुसार अन्तःकरण से विशिष्ट चैतन्य ही सहृदय है। चैतन्य अन्तःकरण के साथ अध्यस्त रहता है इसलिए अन्तःकरण में रहने वाली रति चैतन्य की प्रतीत होती है। अतः यहाँ अन्तः करण पर चैतन्य का अभ्यास हो जाता है। अतः जब अन्तः करण के द्वारा रति का प्रकाश होता है तो वह चैतन्य से विशिष्ट रूप में ही होता है। इस तादाम्य के कारण ही चित् रति का विशेषण बन जाता हैं।

रति विशिष्ट चित् – ''रसो वै सः'' इत्यादि श्रृतियों के आधार पर आत्मा अर्थात् चित्त् ही वस्तुतः रस रूप है । इनमें भिन्नता दर्शाने के लिए कहा जाता है शुद्व आत्मा है आत्मानन्द और रतिविशिष्ट आत्मा है काव्यानन्द।

निष्पत्ति – प्रकाशक तत्त्व एकमात्र चैतन्य ही है वह चैतन्य दीपवत् स्वपरभासी होने के कारण स्वयं का भो प्रकाशक है और रति का भो प्रकाशक है। चैतन्य का प्रकाश तभो हो सकता है जब उसका आवरण भङ्ग हो जाये। काव्य–क्षेत्र में यह कार्य व्यञ्जना व्यापार द्वारा होता है।

सहृदय सर्वप्रथम काव्यात्मक शब्द को सुनता है। उसको सुनने से अभिधा द्वारा काव्यार्थ का बोध होता है। काव्यार्थ बोध से सामाजिक की सहृदयता जग जाती है तब काव्यगत व्यञ्जना (भावना) भो क्रियाशील हो जाती है सहृदयता तथा काव्यशक्ति की महिमा से सम्पूर्ण काव्यार्थ साधारणीकृत हो जाता है। अर्थात् शकुन्तला आदि के विशेष रूप छिपकर उनके साधारण रूप में प्रस्तुत होते हैं। साधारणीकरण के साथ विभावानुभावादि भो सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होकर भावमय बन जाते हैं जिससे विभावादि अर्थात् अर्थ में रहने वाली व्यञ्जना शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके द्वारा सहृदय के आत्मा का आवरण नष्ट

हो जाता और चिद्रूप व आनन्दरूप प्रकट हो जाते हैं। चैतन्य के आवरण भग होने से जिस प्रकार आनन्दरूप व चिद्रूप प्रकाशित होता है उसी प्रकार रति आदि का भो प्रकाश होता है।

इनके मत में भरत मुनि के रस सूत्र का अर्थ है – विभावानुभावादि द्वारा व्यञ्जना शक्ति के संयोग से चिदानन्दविशिष्ट रस का अथवा रतिविशिष्ट चिदानन्द का चैतन्य में प्रकाश ही रसनिष्पत्ति है। भरत के रस सूत्र की ये चार व्याख्याएं अतिप्रसिद्ध है इनके अतिरिक्त नव्यमत नैयायिकों द्वारा भो इसकी व्याख्या की गयी हैं जिनको भो हम यहाँ संक्षेप में पढेगें।

11.2.1.5 नव्यमत (अद्वैतवेदान्ती) – (अनिर्वचनीयख्याति)

यह मत अनिर्वचनीय ख्याती पर आधारित है । इनके मत में :–

रस – अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रति

निष्पत्ति – सहृदयगत्वेन उस रति का भम

जिस प्रकार इस लोक में 'इदं रजतम्' इस प्रकार कहने पर अद्वैतवेदान्तियों के मत के आधार पर एक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार काव्य में 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान'' इस रस बोध में सहृदय में एक नवीन प्रातिभासिक रति की उत्पत्ति होती है और इसी रजत स्थानीय रति का बोध सहृदय को होता है।

इस रति को अनिर्वचनीय इसलिए कहा है क्योंकि यह रति अनुभवगम्य होती है इसलिए असत् नहीं कही जा सकती और वास्तविक नहीं होती है इसलिए सत् नहीं कही जा सकती है चूंकि सत् व असत् दोनों के रूप में ही कहा जा सकना कठिन है अतः यह रति अनिर्वचनीय है– सत्य बोध होने पर नष्ट हो जाने के कारण प्रातिभासिक कहलाती है और प्रातिभासिक होने के कारण साक्षिभास्य।

रति, भावना रूप दोष से उत्पन्न होने के कारण भावना का कार्य है और भावना के नष्ट होने पर नाश के कारण उसी भावना का नाश्य भो है। अतः भावना के उत्पन्न व नष्ट होने के साथ ही रस की उत्पत्ति व नाश भो कहे जाते हैं। इनके मत में अतिरिक्त व्यञ्जना को न भावकत्व व न भोजकत्व, इन व्यापारों की स्वीकृति अपेक्षित नहीं है। रस की निष्पत्ति के लिए सबके बिना भावना मात्र ही अपेक्षित है। अतः यही लाघव है। इस प्रकार इनके अनुसार मुख्य रूप से भावना ही रतिबोध का कारण है –

इनके अनुसार भरत के रससूत्र का तात्पर्य यह है कि विभावानुभावादि के भावनाविशेष रूप दोष से ;संयोग सेद्ध अनिर्वचनीय दुष्यन्तरतिरूप रस की उत्पत्ति ।

11.2.1.6 नैयायिकों का मत – (अन्यथाख्याति)

नैयायिकों का मत अन्यथाख्याति पर आधारित है।

रस – रामादि में रहने वाली रति

निष्पत्ति – उस प्रकार की रति का भम

इस मत में भो प्रथम दो मतों के समान ही रामादि में रहने वाली सत्य रति ही रस है और उसकी निष्पत्ति है अपने में उस रति का भम।

किन्तु यहाँ नैयायिकों के भम का विषय सत्य है अर्थात् शुक्ति आदि को देखते हुए अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा हृदयस्थ रजत की स्मृति होना ही रजत की भान्ति है। शुक्ति को शुक्ति न जानना ही भम है। 'इदं रजतम्' की ही भाति सहृदय को 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' यह बोध होता है। वह अपने आपको सहृदय न मानकर दुष्यन्त समझता है और फिर अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में अपने में दुष्यन्तनिष्ठ रति का भम करता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष भम है।

व्यञ्जना का निरसन– नैयायिकों को अभिधा और लक्षणा ही मान्य है, व्यञ्जना मान्य नहीं है क्योंकि उसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है ।

रतिज्ञान के तीन प्रकार

इनके मत में रतिज्ञान तीन प्रकार से हो सकता है :–

1. अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयक रतिमान् ।
2. अहं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तः ।
3. अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान् ।

इनके मत में रस सूत्र का अर्थ है – विभावादि के संयोग से अर्थात् ज्ञान से मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान विशेष की अर्थात् रस की निष्पत्ति होती है।

11.2.1.7 रसनिष्पत्ति के अन्य मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रसगङ्गाधर में रसनिष्पत्ति के इन 6 मतों के अतिरिक्त अन्य मत भो दिए है – वे हैं –

1. विभावादि ;विभाव–अनुभाव–व्यभिचारिभावद्ध ये तीनों भाव मिलकर रस होते हैं। इस दृ ष्टि से भरतसूत्र में प्रयुक्त संयोग पद का तात्पर्य है समुदाय में और निष्पत्ति का अर्थ है रसपदव्यवहार में। इस अर्थ से रससूत्र का तात्पर्य है – विभावादि तीनों का समुदाय रस पद से व्यपदिष्ट होता है।
2. विभावानुभावादि में से रस वही है जो चमत्कारपूर्ण है यदि चमत्कारी नहीं है तो वह रस भो नहीं है। इस दृष्टि से सूत्रगत संयोग शब्द का अर्थ है – सम्यक् योग।
3. परिपुष्ट हुआ विभाव ही रस है।
4. परिपुष्ट हुआ अनुभाव ही रस है।
5. परिपुष्ट व्यभिचारि भाव ही रस रूप में परिणत होता है।

''विभावादित्रयः समुदिता रसाः।'' इस प्रकार की उक्ति से स्पष्टतः प्रतीत है कि रस की निष्पत्ति विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भावों के संयोग से होती है जब तक इन तीनों का संयोग नहीं होगा तब तक रस निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः अन्तिम तीन मतों की रस सूत्र के साथ समस्वरता नहीं है।

11.3 रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रसस्वरूप

11.3.1 अभिनवगुप्त के मत का उत्कर्ष –

रस–व्याख्याओं में अभिनवगुप्त का ही मत सबसे अधिक प्रभावपूर्ण है । पण्ड़ितराज जगन्नाथ की दृष्टि में भो वही श्रद्धेयतम है। रसगङ्गाधरकार ने इस मत को निम्न कारणों से श्रेष्ठ माना है :–

11.3.2 रस–बोध न्यायसम्मत बोध नहीं है –

भट्टलोल्लट श्रीशङ्कुक आदि ने रस का आस्वाद जिस रीति से स्वीकार किया है वह तार्किक रीति है किन्तु वस्तुतः तो रस तर्क का विषय नहीं है । रस प्राप्ति के समय तो बुद्धि शान्त रहती है और हृदय में स्वतः ही रस का स्फुरण होता है। जबकि अलौकिक प्रत्यक्ष या अनुमिति दोनों ही बुद्धि के मार्ग है।

11.3.3 रस सहृदयनिष्ठ है –

रति आस्वाद का विषय पूर्व में परनिष्ठ माना जाता रहा है। यदि राम अथवा नट में रति हो और सहृदय उससे आनन्द ले परन्तु ये भो अनुचित है। क्योंकि मिष्ठान्न खाने वाले और उसके आनन्द की प्राप्ति करने वाला मनुष्य भिन्न–भिन्न नहीं हो सकता। भट्टलोल्लट आदि ने परनिष्ठ संतोष में विश्वास किया। भट्टनायक ने इस मत का खण्डन कर सहृदय की अपनी रति की आस्वाद्यता सिद्ध की और साथ ही उस रति को भो अपनी आत्मा के आनन्दात्मक अंश से विशिष्ट होने पर ही रस की कोटि में माना। किन्तु अभिनवगुप्त ने आनन्द विशिष्ट रति के स्थान पर रति विशिष्ट आनन्द को रस माना है।

11.3.4 आनन्द साक्षात् आत्मा है –

आनन्द कोई लौकिक पदार्थ नहीं है और न ही कोई साधारण चित्तवृत्ति अपितु साक्षात् आनन्दस्वरूप सहृदय की आत्मा ही रस है। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने अपने मत का स्पष्टतः प्रतिपादन करते हुए कहा है कि –

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दधनमास्वद्यते। तत्र का दुःखशङ्का केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासना–व्यापारस्दुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः ।''

रति आदि संस्कार केवल उस रस के वैचिय में ही कारण होते है, स्वयं रस नहीं होते हैं। स्वात्मभ्त आनन्द के ही रसव्याप्य होने से काव्यरस कभो भो दुःखरूप नहीं होता सुखरूप ही प्रतीत होता है।

11.3.5 रति भी साधारण रति है –

आनन्द रूप के साथ जिस रति का आस्वाद सहृदय करता है उसके प्रति उसकी ममता नहीं होती अपितु रतित्वेन ही उसका आस्वाद करता हैं । एक ही रति का सभो सहृदय आस्वाद करते है। लौकिक रति में साधारण रमणी कारण होती है न कि विभावादि। जबकि साहित्यिक रति में रमणी रमणीत्वेन सबके प्रति कारण होती है ओर विभावरूप बन जाती है।

11.3.6 रति संस्कार है –

अभिनव ने अब तक चित्तवृत्ति के रूप में मानी जाने वाली रति को 'संस्कार' के रूप में कहा । संस्कार होने से वह सहृदय के धर्म के रूप में स्वीकार की गई और सहृदय के अन्तःकरण में सदा विद्यमान सिद्ध हो गयी। अतः सहृदय की अपनी बुद्धि उद्बुध होती है और आत्मानन्द से संयुक्त होकर रस बन जाती है। अभिनवगुप्त ने लौकिक रति व साहित्यिक रति में पृथ्वी आकाश के समान अन्तर बताया है।

11.3.7 व्यञ्जना की स्थापना –

भट्टनायक ने भावकत्व व भोजकत्व अतिरिक्त व्यापार को माना जबकि अभिनव ने इन दो वृत्तियों के स्थान पर एक ही वृत्ति 'व्यञ्जना' को स्वीकार किया। भट्टनायक की ये दो वृत्तियाँ पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना है।

निष्कर्षतः रसगङ्गाधरकार के मत में अभिनवगुप्त का मत ही सर्वोत्कृष्ट मत है और उसमें कारण है –

1. साक्षात् आत्मस्वरूप आनन्द को ही रस मानना ।
2. व्यञ्जना की स्थापना।
3. संस्कार सामान्य के रूप में रति को सम्मुख करना ।

रस का आत्मस्वरूप अन्य सभो स्वरूपों में श्रेष्ठ है ।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा भावना का रूपान्तर – भक्तिवाद का प्रतिपादन करते हुए पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओं का प्रभाव वहाँ दृष्टिगोचर होता है । जैसे – भावना नामक व्यापार अभिनव के मत में शाब्दी व्यापार था अर्थात् भट्टनायक ने जिसे भावना कहा है अभिनवगुप्त ने उसे शाब्दी व्यञ्जना कहा है । अर्थात् शब्द की विशेषता विभावादि का साधारणीकरण करना है । परन्तु पण्डितराज ने भावना के स्वरूप में आमूल परिवर्तन करते हुए कहा कि – 'पुनः पुनरनुसन्धानात्मा' अर्थात् काव्य का पुनः पुनः आलोडन । यह 'पुनः पुनः आलोडन' सहृदय की विशेषता है न कि शब्द की । यह सहृदय के हृदय में रहने वाला एक व्यापार है। अतः जो व्यापार शब्दगत व्यापार था वह पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में सहृदयहृदयनिष्ठ व्यापार हो गया । अतः जो भावना प्राचीन मत में काव्यनिष्ठ थी वह अब रसगङ्गाधरकार के मत में सामाजिकनिष्ठ बन गयी।

प्राचीन मत में काव्य तथा रस के मध्य अभिव्यञ्जक अभिव्यङ्ग्य अर्थात व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव था किन्तु पण्डितराज ने मम्मट के मत की व्याख्या करते समय उसके स्वरुप में भो परिवर्तन कर दिया। मम्मट ने अपने मत का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा कि – ''व्यक्तः

स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।'' वास्तव में यहाँ व्यक्त का अर्थ है – व्यञ्जना का विषय बना हुआ अर्थात् काव्यनिष्ठ व्यञ्जनावृत्ति का अवगत हुआ (व्यङ्ग्य हुआ) जो रत्यादि स्थायीभाव है वह किन्तु जगन्नाथ जी ने अपने दृष्टि से उसका अर्थ बतलाते हुए कहा – ''व्यक्तो व्यक्ति विषयीकृतः व्यक्तिश्च भग्नावरणचित्'' अनावृत्त चैतन्य का विषय बने हुए व्यक्ति को व्यञ्जना न मानकर साक्षात् आत्मस्वरूप मान लिया।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के द्वारा मानी गयी शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना दोनों पण्डितराज के द्वारा सहृदय का ही धर्म बना दी गयी, उन्हें काव्य का धर्म नहीं कहा गया ।

11.3.8 निजी आत्मा का आस्वाद ही रस है –

सहृदय की अपनी आत्मा का आस्वाद है रस, ब्रह्म का आस्वाद नहीं। इस प्रकार कहकर पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वाधिक आकषक रसोत्कष बताया है। चाहे आस्वाद के समय सहृदय को निजात्मत्वेन उस आत्मा का बोध न होकर आत्मत्वेन ही बोध होता है किन्तु वह बोध सहृदय की अपनी ही आत्मा का है।

इस प्रकार रसगङ्गाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को सर्वथा 'सहृदयनिष्ठ' सिद्ध कर दिया है।

11.4 रसगङ्गाधर में स्थायीभाव

11.4.1 स्वरूप

स्थायीभाव एक चित्तवृत्ति है। चित्तवृत्ति का अर्थ है अन्तःकरण की एक अवस्था विशेष। रसास्वादन काल में सहृदय के अन्तःकरण में एक भाव प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है। आद्योपान्त स्थिर रहने के कारण ही इन भावों को स्थायिभाव कहा जाता है।

प्रत्येक रस का स्थायिभाव भिन्न–भिन्न होता है । चित्तवृत्तियाँ तो क्षणिक होती हैं और स्थायिभाव जब चित्तवृत्ति रूप में है तो वे स्थायी कैसे हो सकते हैं? तो इस आपत्ति के निराकरण में रसगङ्गाधरकार ने कहा है कि ये स्थायिभाव संस्कारात्मक हैं, अतः स्थायी हैं। संस्कार रूप होते हुए ही इनकी पुनः पुनः अभिव्यक्ति होती रहती हैं अतः इन्हें स्थायिभाव कहा जाता हैं । एक व्यभिचारि भाव एक बार नष्ट होने के बाद पुनः उदय नहीं होता किन्तु स्थायिभाव पुनः अभिव्यक्त होता है ।

11.4.2 स्थायीभावों की संख्या :–

जिस प्रकार रस नौ कहे गये हैं तथा प्रत्येक रस का एक स्थायिभाव होता है उसी प्रकार स्थायिभाव भो है ।

'रतिः शोकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी ।''

क्र.सं.	रस	स्थायिभाव
1	श्रृङ्गार	रति
2	करूण	शोक
3	शान्त	निर्वेद
4	रौद्र	क्रोध
5	वीर	उत्साह
6	अद्भत	विस्मय
7	हास्य	हास
8	भयानक	भय
9	वीभत्स	जुगुप्सा

11.4.3 स्थायीभावों के लक्षण –

11.4.3.1 रति–'स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यचित्तवृत्ति विशेषो रतिःस्थायिभावः।''

अर्थात् स्त्री व पुरूष को आलम्बन ;रसगङ्गाधरद्ध बनाने वाली प्रेम नामक चित्तवृत्ति विशेष रति कही जाती है। अर्थात् स्त्री के हृदय में पुरुष को आधार बनाकर, पुरुष के हृदय में स्त्री को आधार बनाकर जो प्रेम नामक भाव उत्पन्न होता है वही 'रति' नामक स्थायिभाव है ।

11.4.3.2 शोक–''पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैकलव्याख्याचित्तवृत्ति विशेषः शोकः''

अर्थात् पुत्रादि किसी प्रियजन के मृत्यु को प्राप्त हो जाने से उत्पन्न जो विकलता होती है वही विकलता शोक है। वियोग केवल तभो शोकात्मक होगा जब इसम चिरकाल के लिए वियुक्त होने की भावना हो और स्त्री–पुरूष ;नायक–नायिकाद्ध का आलम्बन लिये हुये न हो । रसों के द्वारा शोक का विप्रलम्भ श्रृङ्गार से भद किया जाता है ।

11.4.3.3 निर्वेद –''नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मविषयविरागाख्यो निर्वेदः।''

अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से उत्पन्न सांसारिक भोग–विषयों के प्रति अनासक्ति को ही निर्वेद स्थायिभाव कहा जाता है ।

11.4.3.4 क्रोध – ''गुरूबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यःक्रोधः।''

अर्थात अपने गुरू, बन्धु आदि के वधरूपी अपराध से जब चित्त की प्रज्ज्वलनात्मक अवस्था होती है वह अवस्था क्रोध कहलाती है यह प्रज्वलन क्रोध रूप स्थायिभाव तब ही होगा जब इसके मूल में अत्यन्त महान् अपराध अवश्य हो । छोटे अपराध से चित्त का प्रज्वलन तो कटुवचन व असम्भाषण का ही कारण होगा क्रोध का नहीं ।

11.4.3.5 उत्साह –''परमपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।''

अर्थात दूसरे के पराक्रम, दानादि की स्मृति से उत्पन्न औन्नत्यनामक चितवृत्ति विशेष ही उत्साह स्थायिभाव है । उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न चित्त की उन्नति ही उत्साह है ।

11.4.3.6 विस्मय –''अलौकिक वस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः''

अर्थात् अलौकिक वस्तु के दर्शन से उत्पन्न विकास नामक चित्तवृत्ति विशेष विस्मय है ।

11.4.3.7 हास – ''वागङ्गादविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः।''

वाणी अथवा किसी शारीरिक औचित्यङ्ग के विकास से उत्पन्न विकसित हुई चित्तवृत्ति का नाम हास स्थायिभाव है ।

11.4.3.8 भय –''व्याघ्रदर्शनादिजन्मापरमानर्थ विषयको वैकलव्याख्यः सत्यम् ।''

व्याघ्र आदि को देखने से उत्पन्न होने वाली ऐसी विकलता जिसमें यह भान हो कि परम अनर्थ हो जायेगा, वह ऐसी चित्तवृत्ति भय नामक स्थायिभाव है ।

11.4.3.9 जुगुप्सा –कदर्य वस्तु विलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो जुगुप्सा

अर्थात् किसी घृणित वस्तु को देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा नामक चित्तवृत्ति विशेष जुगुप्सा स्थायिभाव कहलाता है।

11.4.4 भावों का स्वरूप

11.4.4.1 विभाव –

विभिन्न चित्तवृत्तियों (स्थायिभावों) को उद्दीप्त करने वाले कारण विभाव कहलाते हैं तथा इनके परिणामस्वरूप जो क्रियाएँ होती हैं वे अनुभाव तथा उस अवस्था में क्षणिक रूप से उठने वाले भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ''एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयो–द्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभाव शब्देन व्यपदिश्यन्ते।'' – (रसगङ्गाधर)

11.4.4.2 अनुभाव –

जिन भावों का वर्णन स्थायिभावों रूपी चित्तवृत्तियों के कार्य रूप में हो वे अनुभाव कहलाते हैं। ''यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन।'' – (रसगङ्गाधर)

11.4.4.3 व्यभिचारिभाव –

''यानि सहचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन।'' जो भाव इन सभो चित्तवृत्तियों अर्थात् स्थायिभावों के साथ–साथ आवागमनशील रहते हैं, वे व्यभिचारभाव कहलाते हैं।

11.5 रसों की संख्या –

11.5.1 पण्डितराज जगन्नाथ ने नौ रसों की सत्ता स्वीकार की है –

शृङ्गारः करूणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चव बीभत्सश्चेति ते नव।।

अर्थात् शृङ्गार, करूण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भत, हास्य (रसगङ्गाधर) भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं। नौ रसों को मानने में प्रमाण है मुनि का यह वचन –

शृङ्गारहास्यवैकरूणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः।।

शान्त रस में शम स्थायिभाव है। इसे भो पण्डितराज ने स्वीकार किया है।

11.5.1.1 पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा शान्तरस की स्थापना –

शान्त रस के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की असहमति है । उनके अनुसार नट में शान्ति का अभाव होने से उसमें शान्त रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और यदि सहृदय में शम हो जाये तो भो रसोद्बोध में बाधा होगी अतः नट पक्ष व सहृदय पक्ष दोनों में शान्तरस की स्थिति नहीं बन सकती और यह भो कहा गया है कि नाट्य गीतादि से युक्त है और शम है विषयों से पराङ्मुखता। अतः दोनों में अत्यधिक विरोध होने से शान्तरस की उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है ।

पण्डितराज ने शान्तरस के पक्ष में तर्क देते हुए कहा कि जो लोग शान्तरस को स्वीकार करते हैं उनके मत में कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती हैं इस सिद्वान्त के आधार पर यह मानना चाहिए कि गीत–वाद्य आदि शान्तरस के उद्बोधन में विरोधी नहीं हैं। विषय–चिन्ता सामान्य का ही शान्त रस के साथ विरोध स्वीकार करने पर उसके आलम्बन विभाव–संसार की अनित्यता, उद्दीपन विभाव–पुराण श्रवण, सत्सङ्ग, पुण्यवन तीर्थावलोकनादिरूप विषयों का भो विरोधीभाव मानना होगा अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि विषयमात्र की चिन्ता शान्तरस की विरोधी है। विषय विशेष की चिन्ता को विरोधी मानना युक्तिसगत है। महाभारत में भो शान्त रस की प्रधानता है। महाभारतादि तो आदर्श ग्रन्थ स्वरूप है। सम्पूर्ण लोक का अनुभव इसमें प्रमाण हैं। अतः शान्त रस की सत्ता तो स्वीकार करनी ही होगी।

इसी आशय को मम्मट ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहकर 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहा है अर्थात नवें रस के रूप में शान्त रस की भो गणना की है।

11.5.1.2 भक्तिरस का खण्डन –

पण्डितराज जगन्नाथ ने भक्ति रस का खण्डन करते हुए कहा है कि रति नामक भाव में भक्ति रस का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्त की देवादिविषयक रति ही भक्ति है।

''अथ कथमेतत् एव रसाः ......उच्यत ....
भक्तिर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपतेः ।'' – भरसगङ्गाधरद्ध

11.5.1.3 वात्सल्य रस का खण्डन –

''रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्यत इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः ।''

कौन रस है कौन भाव है इसके व्यवस्थापक आचार्य भरत ही हैं। शास्त्रों के अनुसार ही रसों की गणना उचित है। रति नामक भाव में ही वात्सल्य रस का भो अन्तर्गणन हो जाता है। पुत्रादिविषयक रति ही वात्सल्य रस है। वात्सल्य रस का भो भक्तिरस के समान स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

11.5.2 रसों के भेद–उपभेद –

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने श्रृङ्गार और वीर इन दो ही रसों के भदों का निरूपण किया है।

11.5.2.1 श्रृङ्गार रस के भेद –

1. सम्भोग श्रृङ्गार
2 विप्रलम्भ श्रृङ्गार

(1) **सम्भोग श्रृङ्गार** –नायक नायिका के संयोग के समय जो रति हो वह सम्भोग श्रृङ्गार कहलाती है। संयोग का अर्थ 'संयुक्तोऽस्मि' इस प्रकार के ज्ञान से युक्त होना है न कि दम्पति का एक स्थान पर रहना। सम्भोग एक अन्तःकरण की प्रवृत्ति है। दम्पति के एकाधिकरणक होने को ही सम्भोग नहीं माना जाता क्योंकि कभो–कभो एक ही पर्यङ्ग पर शयन करते हुए भो वे ईर्ष्यादिग्रस्त रहते है तो वहाँ विप्रलम्भ श्रृङ्गार का ही वर्णन होगा । इसका उदाहरण है –

''शयिता सविधेप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्

दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ।।''

(2) **विप्रलम्भ श्रृङ्गार** – वियोग काल में जिस रति का प्रादुर्भाव होता है वह विप्रलम्भ श्रृङ्गार है । वियोग का तात्पर्य है – 'वियुक्तोऽस्मि' यह अन्तःकरण की प्रवृत्ति है । वियोग का तात्पर्य केवल एकाधिकरण में न रहना ही नहीं हैं।

यथा –**नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे ।**

आलिङ्गितापि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन ।।

11.5.2.2 वीर रस के भेद –

''वीरश्चतुर्धा । दानदयायुद्धधर्मेस्तदुपाधेरूत्साहस्य चतुर्विधत्वात् ।''

वीर चार प्रकार के होते है – (1) दानवीर (2) दयावीर (3) युद्धवीर (4) धर्मवीर ।

वीर रस का स्थायिभाव 'उत्साह' कहा गया है । जब उत्साह दानविषयक होता है तो दानवीर, जब उत्साह दया विषयक हो तो दयावीर, युद्धविषयक होने पर युद्धवीर और जब धर्मविषयक हो तो तो धर्मवीर होता है ।

11.5.3 आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित रसादि की संलक्ष्यक्रमता का पण्डितराज द्वारा खण्डन –

आनन्दवर्धनाचार्य का मत – विभावादि के बोध के पश्चात् रत्यादि के बोध के होने में इतना कम समय होता है कि दोनों का कार्यकारण भाव प्रतीत नहीं हो पाता । इसी से रस को असंलक्ष्यक्रम कहा गया है। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के पूर्वापरभाव को जहाँ लक्षित न किया जा सके वहाँ असंलक्ष्यक्रमता होती है।

जहाँ प्रकरण विचार–वेद्य हो अथवा विभावादि का उन्नयन करना पड़े वहाँ सामग्री ;विभावादि का संयोगद्ध के जुटने में विलम्ब हो जाने के कारण चमत्कार में समय लगता है । अतः वहाँ संलक्ष्यक्रम रस होता है ।

यथा – **तल्पगतापि च सुतनुः श्वासासङ्ग न या सेहे ।**
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ।।''

इस पद्य में भो 'सम्प्रति' शब्द का अर्थ समझने में समय अधिक लगता है। रस और भाव सदा ध्वन्यमान (व्यङ्ग्य) ही होते है परन्तु फिर भो हमेशा अलक्ष्यक्रम नहीं होते, लक्ष्यक्रम भो होते हैं ।

पण्डितराजकृत खण्डन – पण्डितराज के अनुसार रसादि को संलक्ष्यक्रम मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अभिनवगुप्त और मम्मट एवं भट्ट द्वारा माने गये अर्थशक्ति मूल ध्वनि के बारह भदों के स्थान पर अठारह भद मानने पडेंगे । पण्डितराज के मत में स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भाव से अलक्ष्यक्रम रूप से ही जब रत्यादि की व्यञ्जना हो तभो वे स्थायिभाव रस होते हैं । संलक्ष्यक्रमरूप से अभिव्यक्त होने पर नहीं क्योंकि वस्तुतः रस का अर्थ यह है कि स्थायिभाव का तुरन्त उत्पन्न होने वाले चमत्कार का विषयभ्त होना । आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति का अर्थ यदि इस प्रकार समझा जाये कि 'संलक्ष्यक्रमत्वेन जिस रत्यादि की अभिव्यक्ति होगी वह रसध्वनि नहीं अपितु वस्तुध्वनि ही होगी और रसाभावादि अर्थों में रस का अर्थ रति आदि स्थायिभाव लिया जाये तो उनकी उक्तियों में विरोध नहीं होगा।'

निष्कषतः पण्डितराज ने असंलक्ष्यक्रम ही माना है । इन्होंने आनन्दवर्धन के मत का दूसरे प्रकार से अर्थ किया है।

11.5.4 रस–विरोध –

किसी एक रस के वर्णन के साथ अन्य रस के वर्णन से प्रधान रस के आस्वादन में बाधा उत्पन्न होना ही रस विरोध है।

वीर– श्रृङ्गार, श्रृङ्गार–हास्य, वीर–अद्भत, वीर–रौद्र, श्रृङ्गार व अद्भत का परस्पर अविरोध है।

श्रृङ्गार – वीभत्स, श्रृङ्गार –करण, वीर–भयानक, शान्त रौद्र, शान्त– श्रृङ्गार का परस्पर विरोध है । रस विरोध का अर्थ है – एक रस के परिपाक के समय दूसरे रस के उदय के कारण पूर्व रसभङ्ग हो जाता है । दोनों रसों का मिश्रण रूचिकर नहीं लगता है।

यह विरोध दो प्रकार का होता है

(1) **स्थिति विरोध** – एक के अधिकरण में दूसरे का न रहना ही स्थिति विरोध है ।

(2) **ज्ञान विरोध** – तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्व अर्थात् एक विषय के ज्ञान के द्वारा दूसरे विषय के ज्ञान का प्रतिबद्ध हो जाना ज्ञान विरोध है। नायिका के विषय में कहा जाये 'यह अगम्या' है तो उसी के विषय में यह ज्ञान 'यह गम्या है' बाधित होता है।

11.5.4.1 विरोध–परिहार के उपाय–

स्थिति विरोध का परिहार – स्थिति विरोध का परिहार अधिकरणों को पृथक कर देने से हो जाता है अर्थात् विरोधी रस का अधिकरण बदल दिया जाये तो यह विरोध समाप्त हो जायेगा ।

11.5.4.2 ज्ञानविरोध का परिहार –

जिन दो रसों के ज्ञान के बीच में विरोध है उन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा रस, जो उन दोनों ही रसों का अविरोधी हो, विरुद्धरसों के मध्य में इस सन्धिकर्त्ता के समान वर्णित किया जाएं। जैसे शान्त और श्रृङ्गार के मध्य अद्भत रस का वर्णन ।

11.5.4.3 रस के व्यञ्जक (सामान्य मत)

जहाँ एक वाक्य में सभो पदों के अपने–अपने अर्थों का उपस्थापन करने के द्वारा ही वाक्यार्थ बोध होता है अर्थात् जहाँ पदव्यङ्ग्यता होती है वहाँ यद्यपि सभो पद अपने अर्थों की उपस्थिति के द्वारा व्यञ्जक के प्रति कारण होते है तथापि सबके चमत्कारी न होने के कारण, जो पद चमत्कारी होता है वही व्यञ्जक होता है।

11.5.4.4 रस के व्यञ्जक (प्राचीन मत)

वर्ण व रचना के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों पद व वाक्य में ही समाविष्ट होते हैं। अतः ये व्यञ्जक के विशेषण मात्र हैं। रचना, वर्ण, पद और वाक्य में भो विशेषण–विशेष्य असिद्ध होने के कारण इन चारों को व्यञ्जक मान लिया।

11.5.4.5 रस के व्यञ्जक (नवीन मत)

वर्ग विशेष और रचना विशेष (वैदर्भी आदि) माधुर्यादि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं न कि रसों के।

11.5.4.6 पण्डितराज जगन्नाथ का मत

उपर्युक्त सभो व्यञ्जकों को पण्डितराज ने स्वीकार करते हुए वाक्य की व्यञ्जकता का उदाहरण प्रस्तुत किया –

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूरोः ।
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकषणे कार्मणज्ञा ।।
श्वासो दीर्घस्त्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।
शून्यावृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ।।

वशिष्ठ रामायण में प्रबन्ध की व्यञ्जकता है। वह करूण रस व शान्त रस का व्यञ्जक है। श्रृङ्गार रस के व्यञ्जकों में रत्नावली नाटिका है ।

जिस काव्य में रत्यादि भावों की अभिव्यञ्जना प्रधान होती है, रस की प्रतीति वहीं होती है अन्यत्र यह केवल वस्तुमात्र ही होती है ।

11.5.5 भावध्वनि

भाव का स्वरूप लक्षण – ''विभावादि व्यञ्ज्यमान हर्षाद्यन्यतमत्त्वं भावत्वम्'' अर्थात विभावादि के द्वारा व्यङ्ग्य होने वाले हर्षादि (34 भाव) व्यभिचारिभावों में से किसी का होना ही भाव है। व्यभिचारिभावों से जब स्थायीभावों की अभिव्यक्ति होती है तब वह रस का स्थल होता है किन्तु जब विभावादि के द्वारा व्यभिचारिभावों की ही प्रधान रूप से अभिव्यक्ति होती है, स्थायिभावों की उपस्थिति के स्थान पर तो वह भावध्वनि है अर्थात् मुख्य रूप से व्यभिचारि भावों की अभिव्यक्ति ही भावध्वनि है । ये भावध्वनि 34 है –

''हर्षस्मृतिव्रीडामोहघृतिशङ्काग्लानिदैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रामतिव्याधित्रास–सुप्तविबोधा मर्षवहित्थो–ग्रतोन्मादमरणवितर्कविषादौत्सुक्या वेगजड़तालस्यासूयापस्मार चपलताः । प्रतिपक्षकृत धिक्कारादिजन्मा निर्वेदश्चेतित्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः । गुरू–देवनृपपुत्रादिविषया–रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।''

(1) **हर्ष** – 'इष्ट प्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ।'' अर्थात् अभिष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर जो विशेष प्रसन्नता होती है वही हर्ष है।

(2) **स्मृति** – 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।'' नाना वस्तुओं को देखने और सुनने से हृदय में जो एक संस्कार बन जाता है, वही संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति है।

(3) **व्रीडा** – स्त्रियों का पुरूष मुख देखने से तथा पुरूषों की प्रतिज्ञा भङ्ग होने से तथा पराजयादि से उत्पन्न जो विवर्णता, मुख का नमन आदि है, उसकी कारणभूता चितवृत्ति विशेष ही व्रीडा है।

(4) **मोह** – 'भयवियोगादि प्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः।'' अर्थात् भय और वियोग के कारण होने वाली ऐसी चित्त की दशा जिसमें वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान हो मोह कहलाती है।

(5) **धृति** – लोभ, शोक, भय आदि से उत्पन्न उत्पात के निवारण की कारणस्वरूप चित्तवृत्ति को धृति कहते हैं।

(6) **शङ्का** 'किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्ति विशेषः, शङ्का ।'' अर्थात् 'मेरा क्या अनिष्ट होगा? इस प्रकार की बुद्धि जब होती है तो शङ्का कहलाती है।

(7) **ग्लानि** – आधि–व्याधि से उत्पन्न बल की हानि, रङ्ग उतर जाना, अङ्गों का शिथिल हो जाना, दृष्टिभम आदि–आदि का होना, इन सबका कारण एक प्रकार का विशेष दुःख ही ग्लानि है।

(8) **दैन्य** – दुःख, दरिद्रता और अपराधादि से उत्पन्न अपने अपकष के कथन की कारणरूपा चित्तवृत्ति विशेष ही दैन्यभाव है।

(9) **चिन्ता** – इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट का लाभ होने से जो उत्पन्न होती है वह चित्तवृत्ति चिन्ता कहलाती है।

(10) **मद** – ''मद्याद्युपयोगजन्मोल्लासारव्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः ।''

(11) **श्रम** – अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का खेद विशेष श्रम है ।

(12) **गर्व** – रूप, धन, विद्या आदि के कारण अपने सम्बन्ध में उच्चता की भावना हो जाये तो उस आत्मोत्कष के कारण दूसरों की अवहेलना करना ही गर्व है –

'रूपधनविद्यादि प्रयुक्तात्मोत्कषज्ञानाधीन परावहेलनं गर्वः।''

(13) **निद्रा** – 'श्रमादि प्रयोज्यं चेतः सम्मीलनं निद्रा ।''

(14) **मति** – शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः ।''

(15) **व्याधि** – ''रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः।''

(16) **त्रास** – कातर व्यक्ति की भयानक प्राणी को देखने से अथवा विद्युत ध्वनि सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्ति विशेष ही त्रास कहलाती है ।

(17) **सुप्त** – निद्राविभवोत्थज्ञानं सुप्तम् ।''

(18) **विबोध** – ''निद्रानाशोत्तरो जायमानो बोधो विबोधः।''

(19) **अमर्ष** – दूसरे के द्वारा की गयी अवज्ञा से उत्पन्न एवं अपराध से अनुत्पन्न, मौन, कठोर वचन आदि की कारणभ्त चित्तवृत्ति विशेष ही अमर्ष कहलाती है ।

(20) **अवहित्थ** – व्रीडा आदि निमित्तों के द्वारा होने वाले हर्षादि अनुभावों को छिपाने के लिए उत्पन्न भावविशेष ही अवहित्थ है ।

(21) **उग्रता** – अधिक्षेप (तिरस्कार) और अपमान से उत्पन्न होने वाली ''मैं इसका क्या कर डालूं'' इस प्रकार की भावना विशेष ही उग्रता है ।

(22) **उन्माद** – विप्रलम्भ, महान् आपत्ति, परमसुख आदि से उत्पन्न अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान या भम ही उन्माद है ।

(23) **मरण** – 'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।''

(24) **वितर्क** – 'सन्देहाद्यन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः।''

(25) **विषाद** – ''इष्टासिद्धराजगुर्वाद्यपराधदिजन्योऽनुतापो विषादः।''

(26) **औत्सुक्य** – ''अधुनैवास्य लाभो ममास्वितीच्छा औत्सुक्यम् ।'' अर्थात् मुझे इसी समय इसका लाभ हो जाय, इस प्रकार की इच्छा औत्सुक्य है ।

(27) **आवेग** – ''अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भमाख्या वृत्तिरावेगः ।''

(28) **जड़ता** – चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट या अनिष्ट का दर्शन या श्रवण से उत्पन्न अवश्य कत्तव्य के निश्चय से रहित चित्तवृत्तिविशेष जड़ता कहलाती है ।

(29) **आलस्य** – ''अतितृप्ति गभव्याधिश्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखताऽलस्यम् ।''अतितृप्ति, गभ, शारीरिक श्रम आदि से उत्पन्न होने वाली चित्त की निष्क्रियता ही आलस्य है ।

(30) **असूया** – ''परोत्कषदर्शनादिजन्यः परनिन्दादि कारणीभ्ताश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।'' दूसरे के उत्कष को देखकर उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति असूया है ।

(31) अपस्मार – 'वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद्ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषऽपस्मारः।'' वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा आदि के अतिशय से तथा ग्रहावेश से उत्पन्न व्याधि (शारीरिक कष्ट) विशेष ही अपस्मार है ।

(32) चपलता – ''अमर्षादिजन्यवाक्पारूष्यादिकारणीभ्ता चित्तवृत्तिश्चपलता ।'' अमर्ष आदि से उत्पन्न कठोरवचनादि की कारणभ्ता चपलता है ।

(33) निर्वेद – नीच पुरुषों में क्रोध, तिरस्कार, व्याधि, ताडन (मारपीट) दारिद्रय, इष्टाप्राप्ति, दूसरों की सम्पत्ति से उत्पन्न, उत्तम पुरुषों में अवज्ञादि से उत्पन्न, विषय–विद्वेष नामक, रोदन, दीन–मुख होना, दीर्घनिश्वास आदि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति निर्वेद है ।

(34) देवादिविषयक रति – गुरु, पुत्र आदि को आलम्बन करके स्नेह का उद्भव होता है तो वह रति भाव कहलाती है रस नहीं।

11.5.5.1 रसाभास –

भरतमुनि के वचन को प्रमाण मानकर 33 भावों को ही स्वीकार करना उचित है । किन्तु कुछ रसवद् भासित् होते हैं उन्हें रसाभास कहते हैं ।

''अनुचित विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।''

अर्थात् अनुचित विभाव का आलम्बन होना ही रसाभास है ।

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेणवधूः ।
तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ।।''

इसमें नववधू होने से नायिका में रति नहीं है । अतः अनुभयनिष्ठा रति का वर्णन होने के कारण यहाँ रस नहीं है, रसाभास है ।

11.5.5.2 भावाभास –

रसाभास के समान ही अनुचित विषय को आलम्बन बना लेने पर भावाभास हो जाता है ।

सर्वेऽपि विस्मृति विषयाः प्रयाताः विद्यापि खेदकलिता विमुखी बभूवम् ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ।।

11.5.5.3 भावशान्ति –

''भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।''

हर्षादि भावों का नाश होना ही भाव शान्ति है ।

भावोदय – ''भावोदय भवस्योत्पत्तिः।'' किसी भाव का उत्पन्न होना ही भावोदय है ।

उदा. – **वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।**
असंदेशवलयीकृतां क्षणादाचकष निजबाहुवल्लरीम् ।।''

इसमें पति के हृदय पर कामिनी के हार का चिह्न देखना है विभाव और प्रिया के द्वारा कण्ठ में लिपटे हुए हाथों को खीच लेना है अनुभाव। जिससे व्यङ्ग्य हो रहा है क्रोध का उदय। अतः यहाँ व्यङ्गय भाव की उत्पत्ति है।

11.5.5.4 भावशबलता –

''भावशवलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ।'' अर्थात् भावों का बाध्य बाधक भाव से अथवा उदासीन भाव से व्यामिश्रण ही भावशबलता है। भावों की शबलता का तात्पर्य है – एक ही चमत्कारी के जनक ज्ञान का विषय होना। जहाँ सभो भाव एक ही चमत्कार को उत्पन्न करें वहाँ भावशबलता होती है।

पापं हन्त मया हतेन विहितं सीतापि यद्यापिता ।
स मामिन्दुमुखी बिना बत वने किं जीविंत धास्यति ।।
आटालोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति म् ।
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं न प्राणितुं कामये ।।

इस पद्य में असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, क्रीडा, शङ्का और निर्वेद आदि भावों का जो अपने–अपने विभावों से उत्पन्न हुए है उन सभो का मिश्रण है।

सिद्ध कर दिया है।

11.6 रस स्वरूप निरूपण (विभिन्नाचार्यों के अनुसार)

विभिन्न आचार्यो के मतानुसार रस सिद्धान्त का विवेचन इस प्रकार है :

अब तक रस विषयक जितने भो ग्रन्थ उपलब्ध है उनके आधार पर रस निरूपण में आचार्य भरत का प्रमुख स्थान है। अतः सर्वप्रथम यहाँ उन्हीं के रससिद्धान्त का निरूपण किया जा रहा है ।

11.6.1 आचार्य भरत – यद्यपि आचार्य भरत से पूर्व रस के विषय में भरतवृद्ध, वासुकि, नारद, कोहल, महात्मा दुहिण इत्यादि का उल्लेख मिलता है किन्तु इन आचार्यों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। रस के विषय में सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत का 'नाट्यशास्त्र ' ही उपलब्ध है । इसी के आधार पर विभिन्न आचार्यों के द्वारा रस का विवेचन किया गया है । आचार्य भरत के द्वारा प्रतिपादित रसविषयक सूत्र है।

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।''

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है ।

आचार्य भरत ने 36 अध्याय 6000 श्लोक वाले अपने इस 'नाट्यशास्त्र' के छठें अध्याय में रस का वर्णन किया है। रस के प्रकारों का विवेचन करते हुए वे कहते है –

शृङ्गारहास्यकरूण रौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्याष्टौ नाट्येरसाः स्मृताः ।। (नाट्य शास्त्र 6/14)

अर्थात् शृङ्गार–हास्य–करूण–रौद्र–वीर–भयानक– बीभत्स–अद्भत ये आठ प्रकार के नाटक में रस कहे गये हैं। इन रसों के स्थायी भाव इस प्रकार है –

रतिर्हासश्च् शोकश्च क्रोधत्साहो भयस्तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।

अर्थात् रति–हास–शोक–क्रोध–उत्साह–भय–जुगुप्सा–विस्मय ये क्रमशः रसों के स्थायी भाव कहे गये हैं।

अतः रसभावापत्ति किस तत्त्व को प्राप्त होती है तो भरतमुनि ने **'नानाव्यञ्जनौष धिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** इस दृष्टान्त के द्वारा बताया है कि रसत्वप्राप्ति विभावादि भावों के संयोग से स्थायिभावों को होती है अर्थात् स्थायिभावों का ही रस रूप में परिगणन होता है। रसों के आस्वादन के विषय में कहा है कि सहृदयों द्वारा क्रियमाण स्थायिभावास्वादन ही रस है। भरतमुनि ने कहा कि –

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावाँस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ।।

लौकिक मधुरादि रसों के साथ अलौकिक शृङ्गारादि रसों का साम्य बतलाने के लिए भरत ने लौकिक दृष्टान्त का आश्रय लिया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न को खाने वाले एकाग्रचित्त पुरूष मधुरादि रसों का आस्वादन करके हर्ष, पुष्टि, तृप्ति, जीवन, बल, आरोग्य की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार काव्य व नाट्य में भो जब समाहित तथा निर्मल चित्त वाले रसिक प्रेषक विभाव–अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त, वाचिक, आङ्गिगक, सात्विक, आहार्य अभिनय–प्रक्रिया पर आरूढ़ स्थायीभावरूप रसों का आस्वादन करते हैं और उससे उनको लोकोत्तर हर्ष व धर्मादि में वैदग्ध्यादि फल की प्राप्ति होती है । इस प्रकार काव्य व नाट्य में विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव आस्वाद्य है।

आगे हम भामह, दण्डी, उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित रस विषयक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे । इन तीनों आचार्यों ने रसवदलङ्कार अथवा रसालङ्ार कहकर रस की गणना अलंकारों में की है वस्तुतः ये तीनों आचार्य अलंकारवादी माने जाते हैं अतः इन्होंने रस को भो अलंकार माना है ।

11.6.2 भामह – भामह ने काव्य को 'रसवदलंकारयुक्त' माना है। रसवद् का लक्षण करते हुए कहा है कि –

रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृङ्गारादिरसोदयम् ।
देवी समागमच्छद्मम्स्करिण्यतिरोहिते ।।

जहाँ श्रृङ्गार आदि रसों की स्पष्ट प्रतीति होती है उसे वे रसवदलङ्कार मानते हैं। जैसे – छद्मवेशधारी शिव के तिरोहित न होने पर पार्वती का उनसे मिलन हो गया। यहाँ शिव–पार्वती संगम द्वारा श्रृङ्गार रस की स्पष्ट प्रतीति है । अतः यहाँ रसवदलङ्कार है। भामह ने यहाँ इसे 'दर्शितस्पष्टश्रृङ्गार' पद के द्वारा व्यक्त किया है।

11.6.3 दण्डी – दण्डी अलंकारवादी आचार्य है। इन्होंने काव्य में श्लेषादि दश शब्दगुणों के साथ वैदर्श्यादि मार्गों की सत्ता भो अंगीकृत की है। इन्होंने काव्यत्वाधायक तत्त्व गुणों के स्थान पर अलंकार को माना है। दण्डी ने रस व भाव को रसवत् व प्रेयोऽलङ्काररूप मानते हुए रसों की सत्ता स्वीकार की है।

यद्यपि इन्होंने अलंकारों को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है किन्तु रस की अपेक्षा इनकी स्थिति को गौण ही माना है। दण्डी भो लोल्लट की तरह विभावादि से परिपुष्ट स्थायीभाव को रस मानते हैं।

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति रक्षणम् ।।

इस उदाहरण से भो स्पष्ट है कि दण्डी परिपुष्ट स्थायिभावों को ही रस मानते है। दण्डी भो अनुकार्य में ही रस की स्थिति मानते हैं। दण्डी ने काव्य की रसवत्ता रसों के कारण ही मानी है। ''इह त्वष्टरसायत्त रसवत्ता स्मृता गिराम्।''

11.6.4 उद्भट – उद्भट् ने रसवत् काव्य, प्रेयस्वत् काव्य, ऊर्जस्वीकाव्य, समाहित काव्य, इस प्रकार काव्य के भद बताऐं हैं। इन्होंने प्रेयस्वत् काव्य का निरूपण निम्न रूप में किया है –

'रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसृजनैः
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वद् उदाहतम् ।।''

उद्भट् ने भामह व दण्डी की तरह केवल प्रियतर आख्यान को ही प्रेयस्वत् काव्य नहीं माना अपितु अनुभावों, विभावों द्वारा जिन रत्यादि भावों की सूचना मिलती है उन्हें प्रेयस्वत् काव्य माना है। इसी प्रकार स्वशब्द, स्थायी, सच्चारी, विभाव तथा अनुभाव द्वारा रस का जहाँ स्पष्ट प्रदर्शन है उसे रसवद् अलंकार कह कर स्थायी आदि भावों द्वारा रस का प्रदर्शन किया है।

11.6.5 वामन – वामन ने कहा है कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् काव्य की आत्मा रीति है । रीति को उन्होंने गुणलङ्कृत पद रचना कहा है । यह कहकर उन्होंने काव्यतत्वाधायक अलंकारों की अपेक्षा गुणों को कहा है । इन्होंने गुणों का रस के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध माना है।

''ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कष हेतवस्ते स्युः, अचलस्थितयो गुणाः ।।

श्लोषादि दस शब्द गुणों की तरह उन्होंने काव्य में 10 प्रकार के अर्थगुणों की भो सत्ता मानी है । कान्ति नामक अर्थगुण का लक्षण कहकर काव्य में रस का पूर्ण प्रकाश माना है ।

11.6.6 रूद्रट – काव्यलङ्कार' के रचनाकार रूद्रट ने केवल श्रृङ्गारादि रसों के अतिरिक्त शान्त और प्रेयस्वान् को भो रस माना तथा रस को काव्य में सर्वाधिक

आनन्ददायी व आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया है। इन्होने औचित्य के आधार पर रस को केन्द्र बिन्दु मानकर अलंकार–गुण रीति इत्यादि के विवेचन का भो संकेत किया है।

11.6.7 भट्टलोल्लट – भरत के रस सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में इन्होंने ''उत्पत्तिवाद'' का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार विभावादि के साथ स्थायीभाव का सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति होती है। इनमें विभाव स्थायीरूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण है।

स्थायीभावों का विभावों के साथ उत्पाद्यउत्पादकभावसम्बध, अनुभावों के साथ प्रत्याय्याप्रत्त्यायकभावसम्बन्ध व व्यभिचारिभावों के साथ पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है। भट्टलोललट ने विभावादि के साथ स्थायीभाव के सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति मानी है। वहाँ विभाव का स्थायिभाव के साथ उत्त्पाद्य–उत्पादकभाव सम्बन्ध माना है।

''तत्र विभावाश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।''

11.6.8 श्री शङ्कुक – ये अनुमित स्थायीभाव को रस मानते हैं। सहृदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही आस्वाद्यमान होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा रस संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। नट में सामाजिकों द्वारा जिस रति का अनुमान किया जाता है वह वस्तुतः रामादि में रहने वाली रति नहीं है वह तो उसका अनुकरणमात्र है। अतः नट द्वारा अनुक्रियमाण व सहृदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रामादि की रति ही रस है।

11.6.9 आनन्दवर्धन – इन्होंने भरत के रस सूत्र की व्याख्या के रूप में रस का निरूपण नहीं किया फिर भो रस को अभिधा, लक्षणा, तात्पर्याख्या वृत्ति तथा अनुमिति से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति का विषय बतलाकर रस के क्षेत्र में नूतन अन्वेषण किया है। आनन्दवर्धन ने प्रधानरूप से ध्वनि की स्थापना की है तथापि ध्वनि वस्तु, अलंकार व रसभावादि भद से तीन प्रकार की है । वस्तुध्वनि व अलंकार ध्वनि की अपेक्षा रसादिरूप ध्वनि प्रधान है अतः वही काव्य की आत्मा या जीवन है, इसको निम्न कारिका द्वारा बताया है –

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।

11.6.10 भट्टतौत – भट्टतौत रस के विषय में 'अनुव्यवसायवाद' को अंङ्गीकृत करते हैं। इन्होंने श्री शङ्कुक के 'भावानुकरण रसः' इस अनुकृतिवाद का खण्डन किया है। भट्टतौत द्वारा 'काव्यकौतुक'' ग्रन्थ लिखा गया है । इसके अनुसार नाट्य में देवादिप्राणियों के व्यक्तिगत भावों का भाव नहीं होता है अपितु त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तनात्मक अनुव्यवस्था होती है।

नैकान्तितोऽस्ति देवानामसुराणां च भावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

11.6.11सांख्यदर्शन की विचारधारा से सम्बन्धित रस विषयक मत का भो प्रतिपादन किया है । इस मत को 'बाह्यार्थवादी'' मत कहा जाता है ।

जैसे लोक में तीन पदार्थ द्रव्य, व्यञ्जन और औषधि बाह्य हैं उसी प्रकार बाह्यवादियों के मत में भो नाट्यरस के विभाव–अनुभाव–व्यभिचारी भाव ये तीनों घटक भो बाह्य हैं। जलरूप, व्यञ्जनों, गुडादि द्रव्यों आदि औषधियों के संयोग से षाडवादि रसों की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती हैं।

11.6.12महिमभट्ट – ''व्यक्ति विवेक'' ग्रन्थ के रचनाकार महिमभट्ट ने रस का विवेचन न्यायमत के अनुसार किया है। इन्होंने अनुमान द्वारा रसादि व्यङ्ग्य की प्रतीति मानकर तदर्थ स्वीक्रियमाण व्यञ्जना (ध्वनि) का निराकरण किया है।

अनुमानेऽन्तर्भवं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् । इन्होंने रसादि की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने का प्रत्याख्यान किया और अनुमिति के द्वारा रसादि वस्तु तथा अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति मानी । महिमभट्ट के अनुसार कवि निरूपित कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव नामक कारणों, कार्यो तथा सहकारिकारणों के द्वारा जो रति आदि स्थायिभाव है उनका ज्ञान सामाजिकों (सहृदयों) को हो जाता है तत्पश्चात्

हृदयसंवाद के कारण वे उनका आस्वादन करते हैं। ये रत्यादि स्थायिभाव ही रस कहलाते हैं । श्रव्य व दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों में विभावादि चर्वणा द्वारा ही रस की प्रतीति होती है।

11.6.13मम्मट – काव्यप्रकाशकार मम्मट का रस के विषय में कोई अभिनव योगदान नहीं है । आचार्य भरत के रससूत्र की भट्टलोल्लट, श्री शङ्कुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत व्याख्या का इन्होने निर्भान्त प्रतिपादन किया है तथा ये अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' के मत को स्वीकार करते हैं ।

11.7 औचित्य सम्प्रदाय; प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

11.7.1 महाकवि क्षेमेन्द्र का परिचय – जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के, वामन रीतिसम्प्रदाय के और कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में साहित्यशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हैं । उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थ में लिखा है– **'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'** इसी प्रकार 'औचित्यविचारचर्चा' में भो–**'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः'** लिखकर 'अनन्तराज' के नामका उल्लेख किया है। अनन्तराज नाम के राजा ने कश्मीर में 1028 से 1063 तक राज्य किया। इसलिए यही काल क्षेमेन्द्र का सिद्ध होता है । क्षेमेन्द्र के पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' और बाबा का नाम 'सिन्धु' था। अपने 'बृहत्कथामञ्जरी' ग्रन्थ में इन्होंने 'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः' लिखकर अभिनवगुप्त को अपना साहित्यशास्त्र का गुरू माना है। कश्मीर के अनन्तराज के बाद उनके पुत्र 'कलश' राजसिंहासन पर आसीन हुए। अनन्तराज ने अपने जीवनकाल में ही कलश को राज्यभार सौंप दिया था। अनन्तराज का शरीरान्त यद्यपि 1081 ईसा में हुआ था किन्तु उन्होंने 1063 में ही राज्यभार कलश को सौंप दिया था। क्षेमेन्द्र ने अपने समयमातृका ग्रन्थ की रचना 1050 में अनन्तराज के काल में की थी। किन्तु 'दशावतार' ग्रन्थ की रचना उसके 16 वर्ष बाद 1966 में कलश के राज्यकाल में की थी।

11.7.2 महाकवि क्षेमेन्द्र के प्रमुख ग्रन्थ

इनके ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है। लगभग 40 ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है। पर वे सब उपलबध नहीं हैं।

1. भारतमञ्जरी, 2. बृहत्कथामञ्जरो, 3. औचित्यविचारचर्चा, 4. कविकण्ठाभरण, 5. सुवृत्ततिलक, 6. समयमातृका आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं । इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों के नामों का उल्लेख किया है । 1. अवसरसार, 2. अमृततरङ्गकाव्य, 3. कनकजानकी,
4. कविकर्णिका, 5. चतुर्वर्गसंग्रह, 6. चित्रभरतनाटक, 7. देशोपदेश, 8. नीतिलता, 9. पद्यकादम्बरी, 10. बौद्धावदानकल्पलता, 11. मुक्तावलीकाव्य, 12. मुनिमतमीमांसा, 13. ललितरत्नमाला,
14. लावण्यवतीकाव्य, 15. वात्स्यायनसूत्रसार, 16. विनयवती, 17. शशिवंश इन सत्रह ग्रन्थों के नाम मिलते हैं । क्षेमेन्द्र के उपलब्ध ग्रन्थों में से 'आचित्यविचारचर्चा' का ही अलंकारशास्त्र के साथ विशेषरूप से सम्बन्ध माना जा सकता है। इसी के कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्यों में की जाती है। इसमें उन्होंने औचित्य को रस का भो प्राण कहा है –

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना ।।'

क्षेमेन्द्र की आलोचना

डॉ. बच्चन सिंह ने अपनी पुस्तक आलोचक और आलोचना में औचित्य विचार चर्चा की निन्दा करते हुए कहा है क्षेमेन्द्र की सबसे बड़ी त्रुटि है विश्लेषण– क्षमता का अभाव। किसी भो औचित्य का न तो वह सैद्धांतिक विवेचन कर पाता है और न उदाहरणों की युक्तियुक्तता

का, असमीचीनता का विश्लेषण। प्रत्येक औचित्य को स्पष्ट करने के लिए वह किसी–न–किसी सादृश्यमूलक अलंकार का सहारा लेता है। पर अलंकारों का उपयोग काव्य के लिए जितना संगत है किसी सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए उतना ही असंगत। एक उदाहरण लीजिये :–

प्रबंधार्थ का औचित्य दिखान के लिए कहा है –

उचितार्थ विशेषण प्रबंधार्थः प्रकाश्यते ।
गुण प्रभाव भव्येन विभवे नेव स जनः ।।

विशेष प्रकार के उचित अर्थ से प्रबंधार्थ भो चमकने लगता है – 'ठीक वैसे ही जैसे गुण के प्रभाव से भव्य लगने वाले वैभव से सज्जन।' इससे प्रबंधार्थ के औचित्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उदाहरणों पर क्षेमेन्द्र ने जो टिप्पणियाँ जड़ी हैं वे तर्क–सम्मत न होकर भावुकतापूर्ण हैं।

अब विचारणीय यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य–परंपरा में क्षेमेन्द्र का क्या स्थान है? क्या उसे भामह, उद्भट, रूद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भट्टनायक, कुंतक, महिमभट्ट की परंपरा का आचार्य कहा जा सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर है–नहीं। तो क्या उसे दंडी और विश्वनाथ (इनका दर्जा उपरि उल्लिखित आचार्यों से नीचे है) के समकक्ष रखा जाना चाहिए? न तो उसमें दंडी की मौलिकता है और न विश्वनाथ की व्यवस्था क्षेमेन्द्र ने स्थान–स्थान पर चर्चित औचित्य को व्यवस्थित करने की चेष्टा की किंतु उनमें आचार्य की मेधा नहीं थी। इसलिए इसका संपूर्ण विवेचन अन्य आचार्यों के विवेचन के सम्मुख रखने से दरिद्र लगता है।

11.8 औचित्य सिद्धान्त

11.8.1 औचित्य क्या है ?

'औचित्य' की भावना रस–ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' लिख कर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य' ही रस का जीवन भ्त है, प्राण है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना ।।

औचित्य की व्युत्पत्ति – उचितस्य भावः औचित्यः तंऔचित्यं जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते है और उचित का ही भाव औचित्य। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को पद वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखलाया है तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखला कर क्षेमेन्द्र ने साहित्य–रसिकों पर महान् उपकार किया है।

11.8.2 औचित्य की परिभाषा

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

11.8.3 औचित्य के प्रमुख क्षेत्र –

महाकवि क्षेमेन्द्र ने औचित्य के प्रमुख 27 क्षेत्रों की गणना औचित्य विचार चर्चा में की है :–

पदे वाक्ये प्रबन्धर्थे गुणेऽलङ्करणे रसे ।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽष्वभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थयां विचारे नान्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेशु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।।

(1) पद (2) वाक्य (3) काव्यार्थ (4) गुण (5)अलंकार (6) रस (7) क्रिया (8) कर्तादिकारक (9) पुंसत्वादि लिङ्ग (10) एकवचनादि वचन (11) विशेषण (12) प्रादि उपसर्ग (13) चकारादि निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) नियमव्रत (18) वस्तु का यर्थाथ वर्णन (19) वस्तु का अन्तर्बल वर्णन (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) तात्पर्य सङ्कलन (23) प्रतिभा (24) वयस् (25) विचार (26) नामकरण (27) इष्टाशंसनामात्मक आशीर्वाद ।

काव्यतत्वज्ञ सहृदय काव्य के इन सत्ताइस अङ्गों में जीवनाधायक औचित्य की सत्ता बतायी है ।

इन समस्त 27 तत्त्वों के उदाहरण औचित्य पूर्णता एवं औचित्य हीनता के परिप्रेक्ष्य में क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचार चर्चा, 8 में प्रस्तुत किये है । उनका कथन है कि औचित्य के गुणों की सम्भावना पाठकों द्वारा स्वयं खोजी जानी चाहिये ।

''अन्येषु काव्यक्षेत्रषु अनयैव दिशा स्वयंमौचित्यम्प्रेक्षणीयम् ।''

क्षेमेन्द्र काव्य–साहित्य के मूल्यांकन के लिए बहुत व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण अपनाने के पक्षपाती थे। एकांगी दृष्टिकोण अपना कर स्वस्थ काव्य–समीक्षा नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने औचित्य के स्वरूप को व्यापकता प्रदान करने के लिए काव्य–रचना के संपूर्ण अंगो–भाव, रस, भाषा, देश, काल, परिस्थिति, चरित्र–चित्रण, प्रकृति–वर्णन, अलंकार–चित्रण, कवि का अभिप्राय, उसकी विचाराभिव्यक्ति आदि को अपनी सैद्धातिक चिंतन की परिधि में समाहित कर लिया है। संक्षेप में कहें तो क्षेमेन्द्र काव्य–रचना के प्रत्येक अंश में चाहे व आंतरिक हो चाहे बाह्य औचित्य के परिपालन पर बहुत अधिक बल देते रहे ।

औचित्य का सामाजिक मर्यादा से सम्बन्ध

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र औचित्य का संबंध सामाजिक मर्यादा से जोड़ते हैं। वे सामाजिकता को औचित्य और असामाजिकता को अनौचित्य की संज्ञा देते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है कि क्षेमेन्द्र रसाभास और भावाभास का उल्लेख नहीं करते, जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त काव्य को समाज–सापेक्ष मानते हैं । कुन्तक ने भो सामाजिकता–असामाजिकता का प्रश्न नहीं उठाया है । यह काव्य में अंग–सगति पर ही जोर देता है । औचित्य–विचार–चर्चा में भो सामाजिक औचित्य का उल्लेख नहीं हुआ है । इसलिए क्षेमेन्द्र को सामाजिक औचित्य के साथ जोड़ना उस पर अपनी धारणाओं को आरोपित करना है ।

11.8.4 औचित्य काव्य के प्राण के रूप में –

काव्य के शरीर के विषय में क्षेमेन्द्र आचार्य ने पृथक् विवेचन नहीं किया है किन्तु क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित जो प्रमुख 27 औचित्य क्षेत्र है उनसे स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है कि ये भो शब्दार्थयुगल को ही काव्य का शरीर मानते है इसलिये इन्होंने एक कारिका की वृत्ति में स्वयं कहा है :– परस्परोपकारकरूचिर शब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालङ्कारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलङ्कारा एवं, बाह्यशोभा हेतुत्वात् ।

अलंकारात्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रस–सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।

औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् । रसेन श्रृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः ।

अर्थात् अलंकार जिसे सुशोभित करते है एवं गुण जिसमें उत्कर्षाधान करते हैं उस काव्य का स्थिर, अनश्वर, प्राणभ्त तत्त्व तो औचित्य ही है । क्योंकि औचित्यस्वरूप जीवनधायक तत्त्व के बिना निर्जीव काव्य के लिये अलंकार एवं गुण व्यर्थ है। पद्य के उत्तरार्द्ध से तात्पर्य है कि कफपित्तवातस्वरूप जो त्रिधातु शब्द वाच्य 'रस' से सिद्ध शरीर में प्राण के समान, श्रृङ्गारादि रसों में प्रसिद्ध शब्दार्थ है युगलस्वरूप काव्य शरीर में उसका स्थिर अविनश्वर जीवनाधायक प्राणतत्त्व तो औचित्य ही है।

11.8.5 काव्य में औचित्यपूर्णता एवं औचित्यहीनता

क्षेमेन्द्र ने जो पद, वाक्यादि औचित्य के 27 प्रकार बताए हैं उनका उचितानुचित विवेचन भो प्रस्तुत किया है अपनी औचित्यविचारचर्चा में उदाहरणस्वरूप क्षेमेन्द्र रस तत्त्व के मूल में औचित्य की नितान्त अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं । सम्पूण काव्य पर औचित्य की नितान्त अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण काव्य पर औचित्य तत्त्व किस प्रकार छा जाता है इसका स्पष्टीकरण करने के लिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग वचन आदि 27 प्रकारों का सोदाहरण व्याख्यान किया है। इसके उपरान्त उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसी पद्धति से अन्य काव्यांगों में भो औचित्य की मूलभ्त स्थिति पर विचार करना चाहिए।

वामनषण्डकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः।। इति ।।

अत्र च प्रक्रमभङ्गायेत्थं पठनीयम् –

नष्टो वषवरो मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रया –
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।

पर्यन्ताश्रयणात् स्वनामसदृशं कार्यञ्किरातो व्यधा –
दात्मावेक्षणसाध्वसाच्च शनकैः कुब्जोपि नीचैर्गतः ।।इति।।

भयानकर सौचित्य का उदाहरण श्रीहर्ष की रत्नावली के निम्नोद्धृत पद्य है –

''बन्धन टूट जाने या काट दिए जाने के कारण पशुशाला क द्वारों का उल्लंघन कर बाहर निकला हुआ वह वानर अपने गले में लटकती टूट हुई रस्सी को नीचे की ओर खींचता हुआ राजभवन की ओर भागे जा रहा था । उस समय उसके उछलते पैरों में बन्धे घुंघरू झनझना रहे थे । पशुपालक उसका पीछा कर रहा था पर वह पकड़ में नहीं आया । अन्ततः वह राजभवन में घुस ही गया जिससे वहाँ की अङ्गनाएँ भयभोत हो उठीं ।।''और,

''उस समय अन्तःपुर में रहने वाले हिजड़े कहीं छिप रहे थे । इसमें उन्हें लज्जा तो होती नहीं थी, क्योंकि यह तो मनुष्य––स्त्री या पुरूष–– को ही होती है जब कि हिजड़े इनसे परे होते। वहाँ जो बौने थे वे भो डर से कञ्चुकियों के कञ्चुक में घुसकर अपने को छिपा रहे थे । जो किरात थे वे भो एक किनारे भाग कर अपने नाम को सार्थक (किर प्रान्त भ्मि एक किनारे, अत जानेवाला घूमने वाला) सार्थक कर रहे थे ओर जो कुबड़े थे वे तो और अधिक दुबक कर चल रहे थे ताकि उन्हें वह वानर देख न ले ।''

इन पद्यों में अन्तःपुर की अङ्गनाओं के उस वानर के तीखे कटकटाते दाँत और नाखूनों से आतङ्कित होने एवं उसके ;वानर केद्ध आ जाने से अत्यधिक भयभोत एवं धैर्यहीन बौनों, किरातों एवं कुबड़ों की, जिनकी गणना मनुष्यकोटि में नहीं होती, भगदड़ के वर्णन से भयानक रसौचित्य स्पष्ट ही दिखाई देता है।

क्षेमेन्द्र के औचित्य–विवेचन की एक अन्य विशेषता यह है कि इन्होंने प्रायः प्रत्येक औचित्य–प्रकार के व्याख्यान करते समय औचित्यपूर्ण तथा औचित्यहीन दोनों प्रकार के उदाहरणों को प्रस्तुत करके अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण किया है।

यथा – न तु यथा राजपुत्रमुक्तापीडस्य–

नीवारप्रसराग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः।
तं द्वष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालोलगल्लं गजं
सानन्दं सभयञ्च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापसः ।।

औचित्यत्र गजस्याघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया स्थायिभावस्य भयानुभाववर्जितस्य केवलं नाममात्रोदीरणेन च भयानकरसोचितसंभ्रमाभावादुपचितमौचित्यं न किंचिदुपलभ्यते ।

किन्तु राजपुत्र मुक्तापीड़ के निम्नोद्धृत पद्य में भयानक रसौचित्य नहीं है – ''इस गज को इसी तपस्वी ने इसकी बाल्यावस्था में में मुट्ठी भर–भर तिन्नी की कोमल घास खिलाकर

पाला है तथा अपने होम से अवशिष्ट जल पुड़इन के पत्ते के दोने में भर कर पिलाया है। अब तो प्रौढ़ावस्था में इसके गण्डस्थल से मद चूने लगा है और इसके ऊपर बैठे भाँरे निश्चल होकर रस पी रहे हैं । अतः वही तपस्वी आज आनन्द एवं भय दोनों के साथ इस गज को दूर रह कर ही देख रहा है ।'

इस पद्य में भयानक रस के स्थायीभाव भय का तो उल्लेख है किन्तु इसमें कहीं भो अनुभाव रूप में आघातकारक विकार युक्त चेष्टा का वर्णन नहीं है । अतः ऐसी स्थिति में भयानक रस का कुछ भो औचित्य नहीं है औचित्य विचार चर्चा की प्रतिपादन शैली इतनी ऋजु और सामान्य है कि कदाचित् इसी कारण किसी अन्य आचार्य को इस ग्रन्थ के व्याख्यान–विवेचन या भाष्य करने की आवश्यकता महसूस न हुई होगी।

11.9 औचित्य स्थापना से पूर्ववर्ती आचार्य एवं उनके मत

औचित्य का उद्‌भव

11.9.1 आनन्दवर्धन –

औचित्य तत्त्व का उद्‌भव क्षेमेन्द्र से मानना एक ऐतिहासिक भ्ल होगी अतः हमें ये भली भाँति जान लेना चाहिये कि ये काव्य का प्राणभ्त तत्त्व औचित्य कहाँ से आया है ? औचित्य का मूल तत्त्व आनन्दवर्धन ने ही उद्‌घाटित किया है । उनका कहना था कि अनौचित्य को छोडकर रसभङ्‌ग का कोई दूसरा कारण नहीं है । इसका परम रहस्य यही है–औचित्य से उसका निबन्धन ।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्‌गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

11.9.2 भरतमुनि –

परन्तु आनन्दवर्धन द्वारा भो औचित्य की उद्‌भावना मानना त्रुटि होगी क्योंकि उनसे बहुत पहले यह काव्य का मूल तत्त्व माना गया था । भरतम्नि ने अपने नाट्‌यशास्त्र के पात्रों के लिये देश और व्यवस्था के अनुरूप वेश–विन्यास की व्यवस्था करके इसी तत्त्व पर जोर दिया था –

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।। (नाट्‌यशास्त्र 23। 69)

11.9.3 पूर्व आलङ्‌कारिक –

क्षेमेन्द्र से पूर्व के आलङ्‌कारिकों ने भो औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र ने स्वयं इस बात की पुष्टि नाट्‌यशास्त्र की एक कारिका के भाष्य में की है।

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।।
शोर्येण प्रणते रिपौ करूणया नायान्ति क हास्यता ।
मौचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ।।

अलंकारशास्त्र ने आलोचना–शास्त्र को तीन महनीय काव्यतत्त्वों के रहस्य से परिचित कराया है। ये तीन तत्त्व हैं– औचित्य, रस और ध्वनि। परन्तु इन तीनों में व्यापकतम तत्त्व औचित्य ही है।

11.9.4 भामह और दण्डी –

डॉ. राघवन ने अपनी पुस्तक डोश लेपलशीी ेष अश्ररपज्ञरी डरीीर में सिद्ध किया है कि भामह और दण्डी में भो परोक्षरूप से औचित्य पाया जाता है।

उक्त सम्पूर्ण को पढ़कर हमने ये निष्कष निकाला कि पूर्व चर्चित की ही चर्चा क्षेमेन्द्र ने की है ।

11.10 औचित्य का विभिन्न सम्प्रदायों एवं काव्यशास्त्रीय विधाओं से सम्बन्ध

11.10.1 औचित्य और ध्वनि एवं रस सम्प्रदाय

औचित्य प्रत्यक्षरूप से ध्वनि और रस सम्प्रदाय से अन्योन्याश्रित भाव से जुडा हुआ हैं क्योंकि औचित्य के भोतर रहकर ही रस तथा ध्वनि अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं । औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं । औचित्य के बिना 'रस' में न तो सरसता है और न ध्वनि में महत्ता । औचित्य के तथ्य पर ही साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है ।

औचितीमनुधवन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चान्‌जुवाङ्‌मयाः ।।

एक काव्यचित्र की कल्पना कीजिये, जिसमें बड़े वृत्त के भोतर एक छोटा वृत्त है । बड़े वृत्त तथा छोटे वृत्त दोनों के भोतर एक–एक त्रिकोण है । इसी का शाब्दिक वर्णन यहाँ किया जा रहा है ।

साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर 'अलंकृति' तक का विकास है। कल्पित काव्य–चित्र का बड़ा वृत्त पर काव्य के अन्तरंग अर्थात् प्राणभ्त् तत्त्व की समीक्षा करता है । इस पूरे वृत्त की परिधि है 'औचित्य' जिसे भारतीय साहित्यकारों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अंगीकृत किया है । इस वृत्त के भोतर जो बड़ा त्रिकोण है उसका शीर्ष स्थान है रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि और अनुमिति । रस का शीर्ष–स्थान सूचित करता है कि भारत के किसी भो साहित्य–सम्प्रदाय में रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। आनन्दवर्धन तो इस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और उनके विरोधी आलंकारिक कुन्तक तथा महिमभट्ट काव्य में इसकी सत्ता का निरसन नहीं करते। रस उन्हें भो मान्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न–भिन्न हैं । रसाभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती हैं (1) ध्वनि के द्वारा (आनन्दवर्धन) तथा (2) अनुमिति ––अनुमान के द्वारा (महिमभट्‌ट) । यहाँ अनुमिति ध्वनिविरोधी समग्र मतों का उपलक्षण है । ध्वनिसम्प्रदाय व्यञ्जना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है । इस काव्यचित्र की कल्पना को बलदेव उपाध्याय ने सरल रूप में प्रस्तुत किया है ।

11.10.2औचित्य और गुण –

उचित स्थान विन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।

उचित स्थान में विन्यस्त होने पर ही अलंकार शोभाधायक हो पाते है । इसी तरह औचित्यपूर्ण होने पर ही गुण भो उत्कर्षाधान में समर्थ हो पाते हैं । अर्थात् गुण में गुणत्व होने में औचित्य हेतु स्वरूप है । औचित्य से परिपूर्ण होने पर ही गुण गुणत्व अर्थात् उत्कार्षाधानहेतुत्व को प्राप्त कर पाते हैं अन्यथा वे दोष ही हो जाते ।

11.10.3औचित्य और अलङ्कार

कण्ठे मेखलया ...औचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालङ्कतिर्नो गुणाः ।

अर्थात् औचित्य के बिना अलंकार आकषक नहीं हो पाते और गुण भो स्वस्वरूपाधायी नहीं बन पाते।

11.10.4 औचित्य और काव्य रस

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने गुरू अभिनव गुप्त से काव्यशास्त्र के सिद्धातों का अध्ययन किया था । आचार्य अभिनव वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का रस–ध्वनि में पर्यवसान मानते थे तथा रस को ही वस्तुतः काव्य की आत्मा निर्धारित करते थे । वे काव्य की संरचना तथा उसके आस्वाद इन दोनों पक्षों में इस तत्त्व को ही एकांत महत्त्व देने का आग्रह करते रहे । किन्तु काव्य के आस्वादन के पक्ष से विचार करते समय अभिनव ने 'सहृदय की चर्व्यमाणता को ही

रस का प्राण निर्धारित किया था––'चर्व्यमाणतैक प्राणः'। क्षेमेंन्द्र ने अपने गुरू अभिनव की रस–चर्वणा विषयक विचारधारा का समर्थन तो किया किंतु अपने स्वतंत्र चिंतन को भो बहुत स्पष्ट कर दिया । इनकी मान्यता थी कि रस में जो चमत्कृति या चर्वणा होती है उसका मूल कारण है – 'औचित्य', अतः औचित्य को ही रस–सिद्ध काव्य की स्थिर जीवनदायिनी शक्ति मानना चाहिए। काव्य–सर्जन के लिए उपयोगी जो अन्य तत्त्व–गुण अलंकार आदि हैं वे भो औचित्य का परित्याग करके अपने अस्तित्व और स्वरूप की रक्षा ही नहीं कर सकते। अनुचित पद्धति से तथा अनुचित मात्रा में गुणलंकारों का काव्य में निरूपण उसे हास्यास्पद बना देता है । इस प्रकार रस के मूलभ्त अवयव चाहे स्थायी भाव हों, चाहे गुण या अलंकार बिना औचित्य तत्त्व का आधार ग्रहण किये संविस्तर निरूपण के अधिकारी ही नहीं बन सकते । 'औचित्यं बिना रति प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।' इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही प्रमुख बताते हुए अन्य समस्त काव्य शैली आदि को द्वितीय तृतीय स्थान पर रखा है।

11.10.5औचित्य और रीति सम्प्रदाय

लातीनी रीतिकार होरेस ने भो औचित्य पर बहुत बल दिया है । उसका कहना है–''यदि कोई चित्रकार अपने चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर बनाये और शेष अंगों पर उनके रंग–बिरंगे पंख लगा दे, जिससे एक ऐसी स्त्री का चित्र बन जाय, जिसका ऊर्ध्व भाग सुन्दर हो और अधोभाग कुरूप मछली की भाँति विकृत । और यदि उसे देखने के लिए आपको आमंत्रित किया जाय तो मेरे मित्रों ! क्या आप अपनी हँसी रोक सकेंगे? ''यदि किसी ग्रंथ में इस प्रकार असंभव बिम्ब–विधान है तो वह ठीक उसी चित्र के समान विचित्र प्रतीत होगा। वह एक रुग्ण व्यक्ति के दुःस्वप्नों के समान होगा। परिणामतः कोई भो बिम्ब अपने–आप में न तो सावयव होगा, न सार्थक और उसका एकत्व नष्ट हो जायेगा।''

चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर एक स्थान पर नहीं रखा जा सकता। इन दोनों में न परस्पर संगति है और न संपूर्ण चित्र के साथ ही उनकी संगति बैठ पाती है। इनमें उचित का भाव नहीं ह। इसे और स्पष्ट करते हुए वह कहता है ''इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम कोमल और कठोर को एकरूप कर दें। हम सर्प और पक्षी या मृग और सिंह को एकजुट नहीं कर सकते ।''

वह विषय, शब्द, अलंकार, परंपरा–नवीनता के समन्वय आदि के औचित्य का उल्लेख करता है। सत्य और शिव के समन्वय की बात उठाकर वह सामाजिक रीति–नीतियों के औचित्य की भो चर्चा करता है । पर क्षेमेन्द्र कहीं भो सामाजिक औचित्य का उल्लेख नहीं करता ।

11.11 पारिभाषिक शब्दावली

मीमांसा – पूर्ण रूप से खण्डन मण्डन द्वारा जानना

साध्य – लक्ष्य, जिसे प्राप्त करना है

साधन – जिसके द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जाए

अनिर्वचनीयता – जिसे शब्दों में न कहा जा सके

परिपुष्ट – स्पष्ट, सवंर्धित

औचित्य – उचित का भाव, तात्पर्य

11.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रस की निष्पत्ति हेतु भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के मतों को स्पष्ट कीजिये।
2. पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रस के स्वरूप को समझाइये।

3. प्रमुख रस एवं उनके स्थायीभावों का वर्णन कीजिये।
4. रसों की संख्या निर्धारित कीजिये।
5. औचित्य सिद्धान्त को समझाइये।

बोध प्रश्न 1

1. सुमेलित कीजिये ।

	अ		ब
(क)	भट्टलोल्लट	(क)	अन्यथाख्याति
(ख)	श्रीशङ्कुक	(ख)	उत्पत्तिवाद
(ग)	अभिनवगुप्त	(ग)	अनुमितिवाद
(घ)	भट्टनायक	(घ)	भुक्तिवाद
(ङ)	अद्वैतवेदान्ती	(ङ)	अभिवक्तिवाद
(च)	नैयायिक	(च)	अनिर्वचनीयख्याति

बोध प्रश्न 2

1. औचित्यविचार चर्चा के रचयिता कौन हैं?
2. रसों के भावों के नाम बताइये (पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार)
3. रसों की संख्या कितनी है?
4. स्थायीभावों की संख्या कितनी है?
5. औचित्य की परिभाषा क्या है?
6. औचित्य के कितने क्षेत्रों की चर्चा महाकवि क्षेमेन्द्र ने की है?

बोध प्रश्न 3

रिक्तस्थानों की पूर्ति करो –

रस		स्थायीभाव
1.	शृङ्गार	– – – – –
2.	करूण	– – – – –
3.	शान्त	– – – – –
4.	रौद्र	– – – – –
5.	वीर	– – – – –
6.	अद्भुत	– – – – –
7.	हास्य	– – – – –
8.	भयानक	– – – – –
9.	विभत्स	– – – – –
10.	रसगङ्गाधरकार	– – – – –
11.	नाट्यशास्त्र	– – – – –
12.	भामह	– – – – –

प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

इकाई से स्वयं जाँच करें ।

बोध प्रश्न 1 के उत्तर

क	–	ख
ख	–	ग
ग	–	ङ
घ	–	घ
ङ	–	च
च	–	क

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

1. क्षेमेन्द्र
2. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी
3. नौ
4. नौ
5. **उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यसम्प्रदायय यत् ।**
   उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।
6. 27

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

1.	रति	2.	शोक
3.	निर्वेद	4.	क्रोध
5.	उत्साह	6.	विस्मय
7.	हास	8.	भय
9.	जुगुप्सा	10.	पण्डितराज जगन्नाथ
11.	भरतमुनि	12.	काव्यालङ्कार

11.13 सारांश

इस इकाई में हमने साहित्य शास्त्र के छः सम्प्रदायों में से दो प्रमुख सम्प्रदायों (रस सम्प्रदाय एवं औचित्य सम्प्रदाय) की चर्चा की। हमने ये जाना कि रस का उद्भव कहाँ से हुआ। उसकी निष्पत्ति पण्डित जगन्नाथ ने किस प्रकार की और अन्य 13 साहित्यशास्त्रियों ने रस के स्वरूप का निरूपण किस प्रकार किया। रस एवं उसके स्थायी भावों को भी हमने जाना।

औचित्य सम्प्रदाय की चर्चा से हमने जाना कि औचित्य क्या है एवं ये साहित्य के सम्प्रदायों और विधाओं से किस प्रकार जुडा हुआ है?

11.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रसगङ्गाधर – भट्टमथुरानाथशास्त्री – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972.
2. रसगङ्गाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन, चिन्मय माहेश्वरी राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978.
3. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर,ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी,सं० २०१३.
4. Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit,Shastri Kuppuswami, Kuppaswasd Shastri Research Institute, Madras - 1945.
5. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, बलदेव उपाध्याय,चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1969.
6. भारतीय काव्यशास्त्र के नए आयाम, मनोहर काले, नमन प्रकाशन नई दिल्ली,2000.
7. औचित्यविचारचर्चा (महाकवि क्षेमेन्द्र कृत) व्या. आचार्य श्रीब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन,. वाराणसी, 1964.

इकाई—12

रीति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत के चतुर्थ प्रश्नपत्र की 12वीं इकाई 'रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक' के अध्ययन से विद्यार्थी निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे :–

- भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का स्थान निर्धारित कर सकेंगे और रीति के प्रयोग ओर महत्त्व का ऐतिहासिक विवरण जान सकेंगे।

- काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धान्त को समझ सकेंगे, जिससे रीति की परिभाषा, भद, गुण एवं रीति का सम्बन्ध तथा वामन के रीति सिद्धान्त की काव्य शास्त्र को देन आदि विषयों की जानकारी पा सकेंगे।
- वामन से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के रीति विषयक मतों एवं विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- काव्य शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों जैसे रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सिद्धान्त एवं औचित्य सिद्धान्त में परस्पर सम्बन्ध का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- विभिन्न रीतियों में निबद्ध साहित्य का रसास्वाद एवं लेखन की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यो ने रसाभिव्यक्ति के अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है जिसमें रीति, रस, गुण, अलङ्कार, ध्वनि वक्रोक्ति आदि की प्रमुखतया चर्चा की गई है। इन उपायों में रीति, मार्ग या पन्थों की अपनी विशेषता है। रीति ही रचना में, गुणस्वरूप में, अलंकार रूप में, रस भ्मिका में सर्वत्र अनुस्यूत है। अतः इस इकाई में हम रीति सिद्धान्त की चर्चा करेंगे।

इस इकाई में प्रमुखतः वामन का रीति सिद्धान्त, रीति की परिभाषा, रीति के भद, नामकरण आधार, रीति और गुण, वामन ;नवम शताब्दीद्ध के रीति सिद्धान्त की काव्य शास्त्र को देन आदि विषयों पर विचार करने के अतिरिक्त वामन से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती रीति विवेचन तथा चिन्तकों का भो निरूपण किया जाएगा।

12.2 रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक–

रीति सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य वामन हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र तथा उसकी वृत्ति के द्वारा अपने मत की स्थापना का प्रयास किया है। अतः वामन से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती रीतिवाद का विवेचन करने से पूर्व वामन के रीतिसिद्धान्त की समालोचना प्रासंगिक होगी।

12.2.1 वामन का रीतिवाद सिद्धान्त है, रीति सम्प्रदाय नहीं–

रस, अलंकार और ध्वनि की तरह रीति सिद्धान्त के पोषकों एवं समर्थकों की परम्परा नहीं चली अतः रस आदि की तरह रीति का सम्प्रदाय नहीं बन सका। वामन का रीतिवाद सिद्धान्त है वह सम्प्रदाय का स्वरूप नहीं ले सका। काव्यशास्त्र में रीति विवेचन की एक अखण्ड परम्परा तो मिलती है किन्तु रीति को काव्य की आत्मा वामन के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने नहीं माना। वामन के पश्चात् रीति को आत्मा मानने वाले या तो वामन के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुर हरभ्पाल है या अमृतानन्द योगी। ये व्याख्याता और विवेचक होने से परम्परा में नहीं माने जा सकते। इस प्रकार वामन की परम्परा नहीं चलने तथा उनकी मान्यता को स्थापित तथा पुष्ट एवं विशद करने का कोई तर्कपूर्ण प्रयत्न नहीं चला तथा उनके मत के खण्डन–मण्डन की व्यवस्थित प्रवृत्ति के भो दर्शन नहीं होते। अतः एक विद्वान वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सम्बन्धी मान्यता को सिद्धान्त माना जाता है सम्प्रदाय नहीं।

12.2.2 रीति का अर्थ एवं परिभाषा :–

रीति शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ दो प्रकार से किया जाता है–

रीति शब्द दिवादिगण की 'रीङ्' प्रस्रवणे तथा क्रयादिगण की 'रीङ्' गतिरेषणयाः इन दो धातुओं से करण तथा अधिकरण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय लगाने पर बनता है। रीङ प्रस्रवणे धातु से 'रीयते क्षरति अनया अस्यां वा वाङ्–मधु–धारेति रीतिः' अर्थात् जिससे या जिसमें वाणी मधु की वर्षा करती है वह 'रीति' है।

रीङ् गतौ धातु से 'रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणा इति रीतिः' अर्थात् जिसमें गुण सन्निहित होते हैं उसे रीति कहते हैं। या 'रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां कवयः' अर्थात् जिस माध्यम से कवि गण प्रस्थान करते हैं उसे रीति कहते हैं।

अमरकोष की उक्ति इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करती है– 'प्रचारस्यन्दयोः रीतिः' (3/3/68)।

वामन ने रीति को काव्यरूपी शरीर की आत्मा माना– 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालंकार सूत्र, अधिकरण 1/अध्याय 2 सूत्र 6)। रीति को काव्य की आत्मा मानने का अर्थ है कि वामन काव्य में विशिष्ट प्रकार का बन्ध मानते हैं। यह बन्ध शब्दार्थों का होता है। काव्य बन्ध या एक विशेष प्रकार की आन्तरिक संगति अभोष्ट अर्थ को व्यक्त करती है। काव्य बन्ध के अतिरिक्त काव्य और क्या है? अतः वामन के अनुसार 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' (काव्यालंकारशास्त्र 1/2/7) अर्थात् विशिष्ट (गुणयुक्त) पद रचना रीति है। काव्य शब्द और अर्थ के सौन्दर्य से युक्त हो तभो वह रीति सम्पन्न है। विशिष्ट का अर्थ दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों से युक्त होता है– 'विशेषो गुणात्मा' (काव्यालंकारशास्त्र 1/2/8)। विशिष्ट पदरचना को रीति की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करना वामन की रीति विवेचन की विशेषता रही। परवर्ती आचार्यों ने अन्यान्य शब्दों के भिन्न प्रयोगों के अतिरिक्त इस परिभाषा में विशेष अन्तर नहीं किया और अन्ततः वामन की परिभाषा ''विशिष्टा पदरचना रीतिः'' सर्वमान्य रही।

12.2.3 रीति और गुण –

वामन रीति और गुण को अभिन्न मानते हैं जो गुण है वही रीति है, जो रीति है वही गुण है। गुण के अभाव में रीति की कल्पना नहीं की जा सकती है। वामन गुण को रीति का धर्म मानते हैं। वे पदरचना की सफलता को काव्य की सफलता मानते हैं। वामन ने गुणों को भावरूप स्वीकार करके प्रत्येक गुण की अलग पहचान निरूपित कर दी।

वामन निरूपित शब्दगुणों तथा अर्थगुणों की पृथक्–पृथक् परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं किन्तु दोनों की संज्ञाएँ अभिन्न हैं –

(1) **ओजगुण**– गाढ़बन्धत्व अर्थात् शब्दों की संश्लिष्टता को ओज शब्द गुण कहते हैं। अर्थ की 'प्रौढ़ता' को अर्थगुण ओज कहा जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'ओज' जब शब्दगुण होता तो उसका अर्थ होगा शब्दों की सामासिक संघटना और 'ओज' जब अर्थगुण होगा तो इसका तात्पर्य होगा अर्थ–गम्भोरता।

(2) **प्रसादगुण**– पद रचना के शेथिल्य अर्थात् शिथिल पदबन्ध को प्रसाद शब्दगुण कहते हैं और अर्थ की सरलता को अर्थ गुण प्रसाद मान लिया जाता है।

(3) **श्लेषगुण**– शब्दों की 'मसृणता' अर्थात् एकवत् आभासित हो रही कोमलता को श्लेष शब्द गुण कहते हैं तथा अनेक भावों के संघटन को अर्थगुण श्लेष कहा जाता है।

(4) **समता गुण**– काव्यबंध की अभिन्नता को समता शब्दगुण कहते हैं तथा वर्ण्यवस्तु के उचित क्रम की रक्षा अर्थगुण समता कहलाता है।

(5) **समाधि गुण**– शब्द रचना का क्रमिक आरोह–अवरोह समाधि गुण होता है। अर्थ की दृष्टि अर्थात् सारगर्भिता अर्थगुण समाधि होता है।

(6) **माधुर्य गुण**– शब्द गुण की दृष्टि से समास रहित शब्दों का प्रयोग माधुर्य गुण होता है तो अर्थगुण की दृष्टि से 'उक्ति–वैचित्र्य' माधुर्य गुण कहलाता है।

(7) **सौकुमार्य गुण**– कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं होना सौकुमार्य गुण है तथा अपरुष का अकठोर अर्थ–कथन सौकुमार्य अथगुण है।

(8) **उदारता गुण**– काव्यबंध की लीलायमानता को उदारता शब्द गुण कहते हैं तथा ग्राम्य अर्थ का अभाव होने पर उदारता अर्थगुण माना जाता है।

(9) **अर्थव्यक्ति गुण**– जहाँ शब्दों के अर्थ स्फुट या स्वतः प्रकट हो वहाँ शब्द गुण अर्थव्यक्ति कहलाता है तथा जहाँ वस्तु स्वभाव का स्फुट कथन हो वहाँ अर्थ व्यक्ति अर्थगुण बन जाता है।

(10) **कांति**– पद रचना की उज्ज्वलता अथवा मनोहारिता को कांतिगुण कहते हैं, रस की दीप्ति को अर्थगुण कांति कहा जाता है।

इस प्रकार वामन ने रीति को पद रचना मानते हुए गुणों को ही मूल तत्त्व स्वीकार किया। गुणों के दो भद माने– (1) शब्द गुण, (2) अर्थगुण। अतः 10 शब्द गुण और अर्थ गुण माने। शब्द गुण का आधार काव्य में वर्ण–योजना, पद–बन्ध अथवा शब्द–गुम्फ का चमत्कार माना तथा अर्थगुण का आधार अर्थ सौन्दर्य है। दस गुणों में से उदारता, सुकुमारता, समाधि और ओज के अनक रूपों में लक्षणा–व्यंजना का चमत्कार है। अर्थ व्यक्ति में स्वाभाविकता का, कान्ति में रस का, माधुर्य में विदग्धता का, श्लेष में गोपन क्रिया चातुर्य का, प्रसाद में अर्थविमलता का तथा समता में क्रम के अभग का सौन्दर्य रहता है। वामन प्रतिपादित इन दस अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार तथा शब्द शक्ति के भावात्मक सौन्दर्य का और दोषाभाव के कारण अभावात्मक सौन्दर्य का समावेश हुआ है। इस प्रकार वामन के मतानुसार रीति की परिभाषा का व्यापक रूप होगा कि गुण, रस, ध्वनि, अलंकारयुक्त तथा दोषमुक्त शब्द गुम्फ का नाम रीति है।

12.2.4 रीति के भेद –

वामन ने रीति के तीन भद स्वीकार किये :–

1. वैदर्भी रीति, 2. गौड़ी रीति, 3. पांचाली रीति।

वैदर्भी रीति के संबंध में वामन ने कहा है कि सभो प्रकार के दोषों से रहित, सभो गुणों अर्थात् दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों सहित वीणा के स्वर के समान मधुर वैदर्भा रीति मानी जाती है :–

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्ची स्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/11 वृत्ति)

वामन के अनुसार अर्थ और शब्द पर विशेष अधिकार रहते हुए भो वैदर्भा रीति को अपनाये बिना वाणी का मधुर रस स्रवित नहीं होता है :–

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/1/ वृत्ति)

वामन ने वैदर्भा रीति के लक्षण में समस्त दस गुणों का सौन्दर्य स्वीकार किया है। वैदर्भा के प्रति वामन का विशेष लगाव इस बात से पुष्ट होता है कि उन्होंने कवियों से वैदर्भा को ही अपनाने का अनुरोध किया है।

गौड़ी रीति की परिभाषा करते हुए वामन ने दस में से दो गुणों की मुक्तता को अभिव्यक्त किया। उनके शब्दों में:–

समस्तात्युद्भटपदाभोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौड़ीयमिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/12 वृत्ति)

अर्थात् ओज और कान्ति गुणों से युक्त और उत्कट पदावली वाली रीति को रीतिवेत्ता गौड़ी रीति कहते हैं।

वामन द्वारा पांचाली रीति की परिभाषा निम्नानुसार दी गई है:–

अश्लिष्ट–श्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पांचालीं कवयो विदुः।। (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/13 वृत्ति)

मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त श्लेष रहित तथा शिथिल पदावली पांचाली रीति है।

वामन ने प्रत्येक रीति की विशिष्ट सीमा और सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित किया।

वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली इन तीनों रीतियों के लक्षण तथा उदाहरण देने के उपरान्त वामन ने काव्य और रीतियों के सम्बन्ध को प्रस्तुत करते हुए कहा कि इन तीनों रीतियों के भोतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भोतर चित्र प्रतिष्ठित हो जाता है:–

'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं
प्रतिष्ठितम् इति' (काव्यालंकारसूत्र, 1/2/13 वृत्ति)

इन तीन रीतियों में से वैदर्भी को वामन लोकोत्तर पदरचना मानते हैं, इसमें तुच्छ वस्तु भो चमत्कारमय जैसी प्रतीत होती है और सहृदयों के कणगोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो अमृत की वर्षा हो रही हो।

वामन से पूर्व दो रीतियाँ वैदर्भी और गौड़ी प्रचलित थीं। वामन ने पांचाली नाम से एक तीसरी रीति की उद्भावना की। तीसरी रीति के परिचय की सार्थकता और मनोवैज्ञानिकता के

सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में कहा कि ''यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है, मेरे मन में भो उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलम् क्यों नहीं, क्या पांचाली की कल्पना अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में यदि पांचाली का अन्तर्भाव मान लिया जाय तो फिर गौड़ी भो उस परिधि से बाहर नहीं पड़ती, क्योंकि समग्र गुण सम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कान्ति का भो। अतः वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं, गौड़ी की विपरीत रीति पांचाली ही है। मानव स्वभाव के दो छोर नारीत्व और पुरुषत्व की भाँति अभिव्यंजना के भो दो छोर है– स्त्रैण पांचाली और परुषा गौड़ी, इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी है। इस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव और असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।'' (भारतीय काव्यशास्त्र को भ्मिका, पृ. 69)

''वामन के परवर्ती आचार्यों द्वारा रीति के नाम तथा संख्या में विभिन्नता का प्रतिपादन हुआ परन्तु अन्ततः वामन की धारणा ही मान्य हुई। इस प्रकार समग्रतः यह रीतिवाद को वामन की विशिष्ट देन साबित हुई। उसमें घुमाव और उलझन नहीं है, वे कभो भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।'' (भारतीय काव्य शास्त्र की भ्मिका, पृ. 22)

डॉ. बलदेव उपाध्याय ने वामन की विशेषताओं के कारण उन्हें ''अलंकार जगत् का जाज्वल्यमान नक्षत्र'' माना है। इस प्रकार मौलिक सिद्धान्त प्रवर्तक तथा समर्थ विवेचक के नाते आचार्य वामन का नाम भारतीय काव्यशास्त्र में भरत, भामह, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक प्रभति सिद्धान्त–प्रवर्तक आचार्यों की पंक्ति में रखा जाता है।

12.2.5 रीति के भेदों के नामकरण का आधार–

वामन ने रीति के तीन भद स्वीकार किये– (1) वैदर्भी (2) गौड़ी (3) पांचाली। इनके नाम का पूर्व परम्परागत आधार प्रादेशिकता न मानकर वामन ने प्रदेश विशेष के कवियों द्वारा विशेष–विशेष रीति का प्रयोग करने के कारण उन कवियों के प्रदेशों के नाम पर रीति का नामकरण माना– ''विदभगौड़पांचालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या।'' (काव्यालंकार–सूत्र, 1/2/10 वृत्ति)

तीनों रीतियाँ विशिष्ट गुण समन्वित हैं। वैदर्भी रीति दसगुण सम्पन्न है, जिसका प्रयोग विदभ के कवियों में मुख्यतया मिलता है। अतः इसका नाम वैदर्भी रीति है।

गौड़ी रीति में ओज और कान्ति दो गुणों का समावेश है और गौड़ देश के कवियों में इसका अधिक प्रचार होने से इसका नाम गौड़ी रीति रख दिया।

माधुर्य और सुकुमारता गुणों की प्रधानता वाली पांचाली रीति है और पांचाल देश के कवियों में इसके प्रचार–प्रसार के कारण इसका पांचाली रीति नाम पड़ गया।

इस प्रकार रीति के प्रादेशिक आधार को समाप्त कर प्रयोग के आधार पर नामकरण की नई कल्पना की।

12.2.6 वामन के रीति सिद्धान्त की काव्यशास्त्र को देन

12.2.6.1 गुण और अलंकार का भेद–

वामन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा कि उन्होंने अलंकार के स्थान पर समग्र रीति के महत्त्व की ओर काव्यशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रसङ्ग में उनका रीति के मूल तत्त्व गुण का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। अतः वामन के रीतिसिद्धान्त की विशेषता गुण और अलंकार का भद निरूपण भो है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना और गुण को नित्य तथा स्वतन्त्र रूप से शोभाकारक माना। इस प्रकार काव्य के मूल तत्त्व के रूप में गुण की प्रतिष्ठा की एवं गौण तत्त्व के रूप में अलंकार को माना। इस प्रकार काव्य के मूल और गौण तत्त्वों, गुण और अलंकार, के भद का निरूपण सर्वप्रथम वामन ने किया। उनसे पूर्व दण्डी ने काव्य चमत्कार के सभो रूपों को अलंकार कहकर माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि सभो गुणों को काव्य के शोभाकारक होने से अलंकार शब्द में ही समाविष्ट कर लिया था। वामन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं और वे हैं ओज, प्रसाद आदि। यमक, उपमा आदि अलंकार अकेले काव्य–शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते, इसके विपरीत ओज, प्रसाद आदि अकेले ही स्वतन्त्र रूप से काव्य की शोभा सम्पन्न कर सकते हैं। गुण नित्य हैं और उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती। (काव्यालंकारसूत्र, 3/1/1–3)

वामन ने गुणों को नित्य तथा स्वतन्त्र रूप से काव्य की शोभा सृष्टि में समर्थ और अलंकारों को अनित्य तथा स्वतन्त्र रूप से काव्य–शोभा–सृष्टि में असमर्थ एवं प्रकारान्तर से गुणाश्रित बताया। इस प्रकार वामन ने रीति का गुणों से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर रीति–विवेचन को एक व्यवस्थित रूप दिया।

12.2.6.2 सरल तथा स्पष्ट सूत्र–शैली

वामन के सूत्र अत्यन्त सरल और स्पष्ट हैं, जहाँ अस्पष्टता की सम्भावना भो आई है वहाँ उन्होंने वृत्ति में स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। इसके अतिरिक्त जहाँ कोई मौलिक बात नहीं वहाँ 'यह प्रसिद्ध ही है', 'अतएव इनके लक्षण नहीं करते', 'इनका ज्ञान दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिये' आदि कहकर छोड़ दिया है। वामन ने अनावश्यक कथन को बचाकर मौलिक तथा नवीन विवेचन प्रस्तुत किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय काव्य शास्त्र की भ्मिका में वामन की प्रतिपादन–शैली की समालोचना में लिखा है, ''इसमें सन्देह नहीं कि वामन की स्थापनाएँ तर्क–संगत सिद्ध नहीं हुई। उनके भद–प्रभद, वर्ग–विभाजन आदि भो अनेक स्थलों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं अस्पष्ट नहीं हैं। उनकी दृष्टि पैनी है और सूक्ष्मताओं को सफाई से पकड़ती है। ... वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है।''

12.3 वामन से पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त एवं चिन्तक

रीति सिद्धान्त स्थापक वामन से पूर्व भो रीति का अस्तित्व था किन्तु उसे भिन्न–भिन्न संज्ञाओं से संबोधित किया जाता था। भरत, बाणभट्ट, भामह, दण्डी के समय में वामन से पूर्ववर्ती रीतिवाद के स्वरूप का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है।

12.3.1 भरत –

भरत ने नाट्यशास्त्र में रीति से मिलते जुलते अर्थ में प्रवृत्ति ओर वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है और वह रीति से अधिक व्यापक प्रतीत होता है तथा इसमें रीति के बीज सन्निहित है। भरत मुनि ने भिन्न–भिन्न प्रदेशों के आचार–व्यवहार, वेशभ्षा तथा भाषा–व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं को प्रवृत्ति कहा :– ''पृथिव्यां नानादेशवेश–भाषाचार–वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृतिः'' नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने भारत की चार दिशाओं में प्रचलित चार प्रवृत्तियों, (1) अवन्ती, (2) दक्षिणात्या, (3) पांचाली, (4) उड्रमागधी, का उल्लेख किया है जो कहीं न कहीं रीति के

अस्तित्व को इंगित करती हैं। इसे पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी (मध्यदेशीय) और पूर्वी भो कहा जा सकता है। प्रवृत्ति का अर्थ है नाटक के पात्रों की वेशभ्षा, आचार, वार्ता आदि। रीति का अर्थ है मात्र भाषा प्रयोग। प्रवृत्ति का सम्बन्ध नाट्य से है तो रीति का श्रव्य काव्य से। वृत्ति को भरत ने काव्य की माता कहा है। वृत्ति भो चार प्रकार की है– भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। ये विभिन्न वाग्व्यापारों से सम्बद्ध हैं। रीति से इनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु रीति प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होती है।

12.3.2 बाणभट्ट –

बाणभट्ट ने हर्षचरित में देश के भिन्न–भिन्न चार भागों में चार प्रकार की शैली प्रचलित होने का उल्लेख किया है तथा काव्योत्कष हेतु चारों के समन्वित प्रयोग को सौन्दर्याधायक बताया है।

भरत के नाट्यशास्त्र का उल्लेख करते हुए अर्थसौन्दर्य, शब्दसौन्दर्य, अलंकारसौन्दर्य तथा अक्षरबन्ध सौन्दर्य की एकत्र स्थिति को दुर्लभ बताया है–

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टो स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। (हर्षचारितम् 1/8)

बाणभट्ट के उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रचलित शैलियों का आधार प्रादेशिक था तथा गुण और अलंकार का रीति से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

12.3.3 भामह–

भामह ने रीति के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया और रीति का सैद्धान्तिक विवेचन किया। काव्य के दो भद वैदर्भो ओर गौड़ी के प्रसंग में कहा कि उस समय एक वर्ग वैदभ, काव्य को महत्त्व देने वाला और दूसरा वर्ग था गौड़, काव्य को श्रेष्ठ कानने वाला। ऐसे विद्वानों के दो वर्ग थे किन्तु भामह ने ''वदर्भो ही गौडीय है''ऐसा मत प्रस्तुत करते हुए इन्हें पृथक् मानने में लोकरूढ़ि को ही कारण माना, वास्तविकता नहीं। भामह ने श्रेष्ठता का आधार गुण माना, नाम या संज्ञा नहीं। इसलिये वैदर्भो भो गुणों से रहित हो तो श्रेष्ठ नहीं है ऐसा माना– ''वैदभमिति नान्यथा''। काव्यालंकार में भामह के अनुसार गुणयुक्त होने पर वैदर्भो और गौड़ी दोनों ही श्रेष्ठ हैं यथा वैदर्भो वह है जो पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति रहित हो, प्रसन्न, सरल, कोमल होने पर भो गीत के समान केवल श्रुतिपेशल हो–

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।। – काव्यालंकार, 1/34

काव्यालंकार में भामह ने कहा है कि गौड़ी यदि अलंकारयुक्त, ग्राम्यदोषरहित, अर्थान्वित और अनाकुल अर्थात् जटिलता–रहित हो तो वह भो श्रेष्ठ है–

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः। – काव्यालंकार, 1/35

तत्कालीन विद्वानों का वैदर्भो के प्रति पक्षपात भामह की दृष्टि में उचित नहीं था। अतः उन्होंने काव्यालंकार में लिखा–

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।। – काव्यालंकार, 1/31

12.3.4 दण्डी–

दण्डी ने रीति शब्द के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया। दण्डी के अनुसार वाणी के अनेक मार्ग हैं। और उनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भद है। वैदर्भो और गौड़ी स्पष्ट भद के कारण पृथक् हैं। काव्यादर्श में लिखा है–

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भ–गौडीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।। – काव्यादर्श, 1/40

दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भा का प्राण माना। दण्डी के अनुसार (1) श्लेष, (2) प्रसाद, (3) समता, (4) माधुर्य, (5) सुकुमारता, (69 अर्थव्यक्ति, (7) उदारता, (8) ओज, (9) कान्ति और (10) समाधि ये दस गुण हैं। दण्डी गौड़ी में इन गुणों का विपर्यय मानते हैं। अतः दोनों में भद करते हैं तथापि दण्डी के अनुसार रूचिभद के कारण कवि की रचनाओं में अनेक अपरिमित भद हो सकते हैं जिनका वर्णन अशक्य है। एक कवि से दूसरे कवि के मार्ग में सूक्ष्म भद अवश्य होता है इसे काव्यादर्श में दर्शाया है–

इति मागद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।। – काव्यादर्श, 1/101

इस प्रकार दण्डी के अनुसार मार्गों (रीति) की संख्या कवि रूचिभद के आधार पर अनेक है। अतः मार्ग वस्तुनिष्ठ होने के साथ–साथ व्यक्तिनिष्ठ होते हैं।

इस प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धान्त के पूर्व रीति सम्बन्धी निम्न स्थिति स्पष्ट थी–

(1) रीति के लिए प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति, 'शब्द' तथा 'मार्ग' संज्ञाओं का प्रयोग हुआ।

(2) वैदर्भा और गौड़ी दो प्रमुख काव्य रचना शैली या मार्ग थे। जिनके भद का एक प्रमुख आधार प्रादेशिक था।

(3) प्रादेशिक पक्षपात क कारण वैदर्भा को गौड़ी से श्रेष्ठ मानने का प्रचलन था।

(4) रीति और गुण में सम्बन्ध माना जाने लगा था।

(5) रीति भद में वस्तु तत्त्व के साथ व्यक्ति तत्त्व का महत्त्व माना जाने लगा था।

दण्डी के पश्चात् काव्यशास्त्र में रीति–सिद्धान्त के उद्भावक वामन का आगमन हुआ। वामन के रीति सिद्धान्त का निरूपण आप पूर्व इकाई 12.2 में विस्तार से पढ़ चुके हैं।

12.4 वामन से परवर्ती रीति विवेचन एवं चिन्तक

वामन के पश्चात् रीति को काव्य की आत्मा तो किसी ने घोषित नहीं किया, किन्तु रीति का विवेचन अनवच्छिन्न परम्परा के रूप में चलता रहा।

12.4.1 रुद्रट :–

वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीति–विवेचन किया। संभवतः रुद्रट ने ही सर्वप्रथम रीतियों का सम्बन्ध रसों से स्थापित किया, उन्होंने रसानुकूल रीति–योजना को मान्यता दी। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में स्पष्ट कहा कि औचित्य का ध्यान रखते हुए वैदर्भा तथा पांचाली का प्रयोग प्रेयस, करुण, भयानक और अद्भत रस में तथा लाटी और गौड़ी का प्रयोग रौद्र रस में करना चाहिये। शेष रसों में रीति का कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता–

वैदर्भी–पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयगौड़ीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।। – (काव्यालंकार, 15/20)

रसानुकूलता का सिद्धान्त मानते हुए भो रुद्रट ने केवल चार रीतियां मानी और समास के आधार पर आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य का लक्षण किया है और नाम, आख्यान आदि रूप पंचधा शब्दोल्लेखपूर्वक नामों की दो वृत्तियाँ कही हैं, (1) समासवती (2) असमासवती। समासवती में तीन रीतियां हैं– पांचाली, लाटीया और गौडीया। इनमें क्रमशः लघु, मध्यम और लम्बे समास पाये जाते हैं अर्थात् पांचाली में दो–तीन पदों का समास, लाटीया में पाँच–सात पदों का समास और गौडीया में यथाशक्ति दीर्घ (लम्बे) समास होते हैं। एकमात्र वैदर्भा रीति, असमास में ;समास रहितद्ध होती हैः–

नाम्ना वृत्तिर्द्विधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्युः रीतयस्तिस्रः।।
पांचाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र।। – (काव्यालंकार, 2/3–4)
"वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकव।।" – (काव्यालंकार, 2/6/2)

काव्यालंकार के वृत्तिकार नेमिसाधु कहते हैं कि ये रीतियाँ अलंकार नहीं शब्दाश्रित गुण हैं– ''एताश्च रीतयो नालङ्काराः किं तर्हि, शब्दाश्रया गुणाः' इति। ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट रीति की कल्पना पदरचना से आगे नहीं कर सके, रुद्रट ने ध्वनिवादियों क समान ही रीति को महत्त्व नहीं दिया।

12.4.2 भोजदेव–

सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने मार्ग को रीति का बोधक माना हैः–

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरिष्यते।। 2/27

भारतीय रीति विवेचन में भोजदेव ने दण्डी की तरह निर्भान्त रूप से रीति को कविस्थिता अर्थात् कवि की विशिष्ट पद्धति या मार्ग कहा और रीतियों की संख्या 6 और गुणों (शब्दगुण एवं अर्थगुण दोनों) की संख्या 24 तक बढ़ाई। वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्तिनी 'अवन्तिका' नामक रीति उन्होंने मानी तथा 'मागधी' नाम की एक मिश्रित रोति मानी। सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने कहा है कि शब्दालंकारों में एक अलंकार रीति भो है ''विदर्भादीनां वाक्यरचनावर्त्म रीतिः'' अर्थात् विदर्भादि देशों की वाक्यरचना का मार्ग ही रीति है। इसके छः भदों में असमस्तपदा वैदर्भी, पाँच–छः पदों के समास में पांचाली, यथाशक्ति समस्तपदा गौडीया, सभो की मध्यवर्तिनी रीति अवन्तिका, मिश्र रीति लाटीया और खण्डरीति मागधी कही जाती है– ''असमस्तपदा वैदर्भी। समस्तपंचषट्पदा पांचाली। यथाशक्तिसमस्तपदा गौडीया। वैदर्भादीनामन्तरालरीतिरावन्तिका। मिश्ररीतिर्लाटीया। खण्डरीतिर्मागधी'' । –श्रृंगारप्रकाश, पृ. 373

सरस्वतीकण्ठाभरण में षड्विध रीतियों का नाम निर्देश कर उनके लक्षण करते समय रीतियों को गुणों के साथ संयोजित किया है। जैसे– असमासा श्लेषादिनवगुणगुम्फिता विपंचीस्वरसौभाग्यवती वैदर्भी रीति है। पंचपदसमस्त, ओज–कान्त गुणविवर्जित पांचालीरीति होती है। समस्त, अत्युद्भटपदा, ओजः कान्ति गुणयुता गौडीया रीति जाननी चाहिये आदि आदि...।

यद्यपि भोज ने रीति को शब्दगुण और शब्दालङ्कारों में गिना है तथापि रीति के महत्त्व को स्वीकार किया है– 'रीतयो वाङ्मयप्राणाः ......'' अर्थात् रीतियाँ साहित्य का प्राण है। –सरस्वती कंठाभरण, पृ. 389

12.4.3 कुन्तक–

कुन्तक ने भो रीति को कवि स्वभाव मानकर रीति का नाम मार्ग रखते हुए उसकी संख्या अनन्त स्वीकार की।

यद्यपि कवि स्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यम्,
तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।। –(वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, 24, पृ. 87)

कुन्तक ने प्रादेशिक नामों की अपेक्षा कविप्रवृत्ति के विचार से तीन सामान्य रीतियों को बताया है। (1) सुकुमार मार्ग– सरल, सरस, मधुर एवं सहज स्वाभाविक अलंकारों से युक्त होता है। (2) विचित्र मार्ग– विशेष अलंकृत, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कलात्मक शैली वाला यत्नसाध्य मार्ग होता है। तथा (3) मध्यम मार्ग– इसमें उक्त दोनों की सन्तुलित विशेषताएं होती हैं।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।। – वक्रोक्तिजीवित, 24 पृ. 82

कुन्तक का यह रीति–निरूपण परम्परामुक्त है तथा सप्रयत्न कला सज्जा और सहज स्वाभाविकता के दो बिन्दुओं तक सीमित है।

12.4.4 आनन्दवर्धन–

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' नाम दिया। सम्यक् घटना अर्थात् यथोचित पदरचना को रीति माना। आनन्दवर्धनाचार्य ने समास की दृष्टि से संघटना के तीन रूप

माने–
(1) असमासा, (2) मध्यमसमासा और (3) दीर्घसमासा। इस प्रकार रीति क स्वरूप का आधार तो समास को माना तथापि तीन प्रकार की संघटना रीति को माधुर्यादि गुणाश्रित तथा रसाभिव्यक्ति का माध्यम माना–

''असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता।।'' ध्वन्यालोक, 3/5

''गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्......................।।'' ध्वन्यालोक, 3/6

ध्वनिवादी रीतियों को वृत्तिस्थानीय मानकर उसे काव्य के बहिरंग तत्त्व के रूप में व्यवस्थित कर देते हैं। रीति को शब्दालंकार से भो बाह्य अनुप्रासादि वर्णालंकार के समकक्ष मानते हैं:–

''शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बाह्यो वर्णालंकारोऽनुप्रासः तत्समकक्षका एता रीतयः''।

ध्वनिवादी रीतियों को वर्णसंघटना का धर्म मानते हैं।

ध्वनिकार का मानना है कि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि संघटना में भो होता है। संघटना उक्त तीन प्रकार की है और कोई भो संघटना किसी भो रस में हो सकती हे, वह गुणाश्रित है। किन्तु दोनो एक नहीं है, **''अन्ये गुणा अन्या च संघटना''** ध्वन्यालोक, पृ. 375

संघटना के नियम में वक्ता, कवि, कविनिबद्ध वक्ता ही हेतु हैं। वे रसभाव समाहित भो हो सकते हैं, अन्यथा भो। किसी भो रस में किसी से भो किसी प्रकार की संघटना का सहारा लिया जा सकता है।

ध्वनिवादी मानते हैं कि रीतियों में ध्वनितत्त्व, भले ही अस्फुट था या वामन जैसे रीतिवादी आचार्य उसे ध्वनि नहीं कह पाये। अस्फुट स्फुरित ध्वनितत्त्व को रीति कहने का तात्पर्य यह मानना है कि रीतियाँ रससमर्पक हैं। रीतियों को वृत्तिकल्प मानना एक विरोधाभाव है क्योंकि ध्वनिवादी मत में भो रीति और गुण में कोई भद नहीं है। गुणों में ही आत्मा निखरती है और जब रीतिवादी रीति को काव्य की आत्मा मानता है तब लोकजीवन के जुड़ाव की दृष्टि से दोनों गुण और रीति में भद नहीं रह जाता।

12.4.5 जयदेव –

चन्द्रालोककार जयदेव ने अपने काव्यलक्षण में 'रीति' शब्द का समावेश किया है:–

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।। चन्द्रालोक, 1/7

चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख में जयदेव ने दस गुणों की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

12.4.6 राजेश्वर –

राजशेखर ने ''वचनविन्यासक्रमो रीतिः'' (काव्यमीमांसा अध्याय 3) अर्थात् वचन विन्यास का क्रम रीति है ऐसी परिभाषा दी। जो वामन कृत परिभाषा से भिन्न नहीं है, शब्दों का अन्तर अवश्य है।

राजशेखर ने समास के साथ अनुप्रास को भो रीति का मूल तत्त्व माना और तीन नये आधार तत्त्वों की सर्जना की– वैदर्भा योगवृत्ति, पांचाली उपचारवृत्ति और गौडीया योगवृत्ति परम्परा।

12.4.7 मम्मट –

आचार्य मम्मट ने तीन वृत्तियों– (1) उपनागरिका (2) परुषा तथा (3) कोमला को स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने इन्हें ही क्रमशः वैदर्भा, गौड़ीया तथा पांचाली रीति नाम दिया है–

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी–गौड़ीया–
पांचालाख्या रीतयः उच्यन्ते। – (काव्यप्रकाश उल्लास 9, श्लोक 80)

और वृत्ति को 'नियम वर्णों का रसानुकूल व्यापार' कहकर परिभाषित किया है– ''वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः'' (काव्यप्रकाश)। मम्मट ने वर्ण–गुम्फ और गुण दोनों को रीति का नियामक माना है और इस रीति की सार्थकता रसाभिव्यंजना में मानी है।

12.4.8 विश्वनाथ –

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है–

'पदसंघटनारीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्'' (साहित्यदर्पण, 9/1)। अर्थात् पदसंघटना ही रीति है। मुख आदि अवयव (अङ्ग) संस्थान (शरीर गठन) विशेषवत् रीति काव्य का अंग संस्था विशेष है। यह रस आदि का उपकार करने वाली है। जिस प्रकार अंगसंस्थान बाह्य होने पर भो आत्मा का उत्कषवर्धक है उसी प्रकार पद संघटना रीति बाह्य अवयव होने पर भो काव्यात्मभ्त् रस की उपकारक है।

आचार्य विश्वनाथ वैदर्भा, गौडी ओर पांचाली इन तीन रीतियों में लाटी को लेकर चार रीतियाँ मानते हैं–

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।। साहित्यदर्पण, 9/1

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी, वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।। 9/2

समस्तपंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता।
लाटी तु रीतिवैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।। 9/3

12.4.9 विद्यानाथ –

प्रतापरुद्रीय में रीति के विषय में कहते हैं–

''आत्मोत्कषवहास्तत्र स्वभावा इत रीतयः।''

प्रतापरुद्रीय, 1/3

उनके मत में रीतियाँ आहार्य शोभा हैं–

''शोभामाहार्यिकीं प्राप्त रतियो रीतयस्तथा''

– प्रतापरुद्रीय, 1/4

वे रीतियों का वृत्तियों में अन्तर्भाव नहीं मानते हैं–

''वैदर्भीप्रभृतयो रीतिविशेषाः न वृत्तिष्वन्तर्भूताः''

– वही, पृ. 35

12.5 रीतिसिद्धान्त एवं अन्य काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय

12.5.1 रीति और अलंकार–

अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त काव्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में निहित है ऐसा मानते हैं तथा दोनों ही अलंकार को शब्दार्थ के सौन्दर्य का कारण मानते हैं किन्तु अलंकार सम्प्रदाय के भामह से रुद्रट तक के आचार्यों ने अलंकार का व्यापक अर्थ करते हुए अलंकार की परिभाषा में गुण, रीति, रस, अलंकार आदि सौन्दर्य विधायक समस्त तत्त्वों को सम्मिलित किया है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में गुण भो अलंकार हो जाएंगे।

रीतिवादी वामन ने सौन्दर्य को अलंकारत्वेन स्वीकार करते उसके दो भद हुए किये हैं– गुण और अलंकार। इनमें माधुर्यादि गुणों को सौन्दर्य का मूल कारण और नित्य धर्म माना है तथा उपमादि जो अलंकार हैं उन्हें उस शोभा के उत्कर्षाधायक अनित्य धर्म स्वीकार किया है।

रीतिवाद में जहां गुण एवं गुण से भिन्न रीति की प्रधान स्थिति एवं महत्ता है वहीं उपमादि अलंकारों की स्थिति अपेक्षाकृत गौण एवं हीन है। रीति में रचना का सौन्दर्य व्यवस्थित रूप से होता है और अलंकार में स्फुट सौन्दर्य विधायक तत्त्व प्रधान होते हैं।

वामन ''सौन्दर्यमलङ्कारः'' अर्थात् अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। ''काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'' की घोषणा करते हैं कि काव्य अलंकार सम्पन्न होकर ही काव्य हो सकता है। इस प्रकार अलंकार का व्यापक अर्थ स्वीकार करते हैं। किन्तु अलंकार का संकुचित अर्थ स्वीकार करके ही अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं अनिवार्य धर्म नहीं। इस प्रकार की स्थिति के कारण ही वामन का रीति सिद्धान्त परवर्ती आलोचना का विषय भो बना।

12.5.2 रीति और वक्रोक्ति –

जिस प्रकार रोति और अलंकारवादी देहवादी हैं तथैव वक्रोक्ति सिद्धान्त भो देहवादी है। इस सिद्धान्त में भो शब्दार्थ के चमत्कार को ही स्वीकार किया गया है। वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र रूप से कहना। काव्य की दृष्टि से देखें तो कवि की प्रतिभाजन्य उक्ति का चारुत्व ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त में इस चारुत्व को छः प्रकार का बताया गया है–

(1) वर्ण वक्रता

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता

(3) पदपरार्धवक्रता

(4) पर्यायविशेषवक्रता

(5) प्रत्यय वक्रता

(6) प्रबन्ध वक्रता

इस भद से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति काव्य की वर्णन शैली और भाषाशैली दोनों को अपने अर्थ में समाविष्ट किये हुए हैं।

रीति सिद्धान्त का क्षत्र इससे किंचित् संकुचित है रीति काव्य की भाषा शैली तक ही सीमित है और वक्रोक्ति भाषा व वर्णन दोनों शैली तक पहुंचती है।

कुन्तक के अनुसार रीति कवि का मार्ग है और वक्रोक्ति कवि का कम है। इस प्रकार रीति वक्रोक्ति का अंगमात्र है क्योंकि वक्रोक्ति के एक भाग का पूर्णरूप से रीति में संग्रहण होता है।

इन समानताओं के होते हुए भो रीति ओर वक्रोक्ति में एक महान अन्तर है। रीति सिद्धान्त में व्यक्तित्त्व की उपेक्षा है किन्तु वक्रोक्ति में कवि प्रतिभा के रूप में व्यक्तित्त्व की स्वीकृति है। इसका कारण ये भो हो सकता है कि कुन्तक के समय में आनन्दवर्धन के ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना हुई थी। यद्यपि वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस सिद्धान्त के अधिक निकट है तथापि दोनों ही सिद्धान्त काव्य के बाह्यतत्त्व अभिव्यंजना से सम्बन्धित हैं। अभिनवगुप्त ने रीति और वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्यायवाची ही माना है। सारांशतः रीति और वक्रोक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित तो है ही।

12.5.3 रीति और ध्वनि–

ध्वनि सिद्धान्त काव्य–आत्मवादी है और रीति सिद्धान्त काव्य–देहवादी है। आनन्दवर्धनाचार्य जो ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक है उनका मत है कि रीति में ध्वनि के उन संकेतों का उल्लेख भो प्राप्त होता है जो कि प्रच्छन्न हैं।

वामन ने व्यंजना की स्वीकृति, वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हुए उसकी परिभाषा देते हुए ''सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति'' दी है। शब्दगुणों में वर्णध्वनि का संकेत प्राप्त होता है। आनन्दवर्धनादि ध्वनिवादियों ने रीति को संघटनारूप मानते हुए उसे गुणाश्रित माना है। गुणों की काव्य में नित्य एवं अचल स्थिति को भो ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं।

चूंकि ध्वनिवादी रीति को गुणाश्रित मानते हैं और शब्दगुणों में वर्ण ध्वनि का संकेत प्राप्त होता ही है। इस प्रकार रीति का ध्वनि के साथ गौण रूप से सम्बन्ध है।

12.5.4 रीति और औचित्य –

औचित्य अपने आप में काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। रीति को जहां संघटना माना जाता है वहीं रसौचित्य एवं गुणौचित्य भो स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। सांघटनिक रूप की सिद्धि रस एवं गुण के औचित्य बिना असम्भव है। किसी भो विचार का जब तक औचित्य ना हो, उस पर चर्चा किया जाना व्यर्थ है। अतः औचित्य की महत्ता असन्दिग्ध है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

रीति में जब औचित्य का समावेश हो जाता है तो उसके सौन्दर्य एवं उसकी शक्ति में गुणात्मक रूप में वृद्धि हो जाती है।

रीति की उपयोगिता कदाचित् समासों में वृद्धि के औचित्य से भो बढती है यथा– वीर और रौद्र रस में समासों की अधिकता और श्रृंगार में विरलता आदि के औचित्य से ही रीति की उपयोगिता बढ़ती है। इस प्रकार रीति का औचित्य से कोई विरोध नहीं है अपितु ये दोनों साथ–साथ काव्य में रहते हुए उसके उत्कर्षाधायक हेतु बनते हैं।

12.5.5 रीति और रस –

रीति सिद्धान्त में रस की स्वीकृति भो अवश्य है। काव्यशास्त्र के सभो सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से गूढतया एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। रस की दीप्ति रीति के प्रसाधन में सहायक है। वस्तुतः रीति गुणाश्रित है और गुण चित्तवृत्ति की पूर्णावस्था है और रस चित्तवृत्ति की उत्तरावस्था है।

दूसरे शब्दों म गुण रस की पूर्वस्थिति है और रस गुण की उत्तरस्थिति। गुण रसानुभ्ति की भ्मि प्रस्तुत करने के कारण रस के नित्य धर्म हैं। वर्ण तथा शब्द मनःस्थितियों के प्रतीक हैं और इनकी सार्थकता गुणानुरूप होना और परोक्षतः रसोपकारिता है।

इस प्रकार रीति रस के आश्रित है और उसके स्वरूप का निर्णय रस द्वारा ही होता है। अतः कह सकते हैं कि रीति सुन्दर शरीर–गठन के समान काव्यात्मा की उत्कषवर्धिका है।

12.6 पारिभाषिक शब्दावली

रीति	–	विशिष्ट पद रचना
विशिष्ट	–	गुणयुक्त
व्यपदेश	–	नामकथन
गुण	–	शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं
चतुर्वर्ग	–	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
अनुस्यूत	–	निहित
पूर्ववर्ती	–	पहले होने वाले
परवर्ती	–	बाद में होने वाले

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वामन के रीति सिद्धान्त को समझाइये।
2. वामन से पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त एवं चिन्तकों का परिचय दीजिये।
3. रीति की परिभाषा, भेद एवं गुणों को लिखिये।

बोध प्रश्न 1

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. रीतिवाद के अनुसार गुणों की संख्या है–

   (अ) 10 (ब) 24

   (स) 12 (द) 8 ( )

2. नाट्यशास्त्र के प्रणेता है–

   (अ) विद्यानाथ (ब) भरतमुनि

   (स) विश्वनाथ (द) मम्मट ( )

3. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' किस काव्यशास्त्री द्वारा प्रदत्त परिभाषा है–

   (अ) वामन (ब) उद्भट

   (स) रूद्रट (द) भारवी ( )

बोध प्रश्न 2

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. वामन प्रदत्त रीति के तीन भेदों के नाम बताइये।
2. बाणभट्ट ने कौन–कौन से सौन्दर्य की एकत्र स्थिति दुर्लभ बताई है ?
3. रीति के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करने वाले आचार्य कौन थे?
4. वामन से परवर्ती तीन आचार्यों के नाम लिखिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 12.2 से स्वयं जांच करें।
2. इकाई 12.3 में देखें
3. इकाई 12.2 में यथास्थान देखें।

बोध प्रश्न 1

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर –

1. (अ)
2. (ब)
3. (अ)

बोध प्रश्न 2

लघुत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर –

1. वैदर्भी, गौडी, पांचाली
2. अर्थ सौन्दर्य, शब्द सौन्दर्य, अलंकार सौन्दर्य, अक्षरबन्ध सौन्दर्य
3. दण्डी
4. कुन्तक, आनन्दवर्धन, मम्मट

12.8 सारांश

रस, अलंकार और ध्वनि की तरह रीति सिद्धान्त के समर्थकों की तर्कसंगत परमपरा नहीं चलने से रीति सम्प्रदाय नहीं बन सका। रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक वामन ने काव्यालंकारसूत्र एवं उसकी वृत्ति में रीति की परिभाषा, रीति के भेद, नामकरण, रीति और गुण के सम्बन्ध आदि की विस्तृत विवेचना की है। रीतियों तथा गुणों के स्वाभाविक सम्बन्ध के विचार ने

वामन के ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' को महत्त्व प्रदान किया। वामन से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों में भरत ने नाट्यशास्त्र में आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, औड्रमागधी आदि प्रवृत्तियों तथा कैशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती आदि वृत्तियों तथा दस दोषों और दस गुणों का निरूपण किया है जिससे काव्य एवं नाट्यगत भाषा विशेषताओं की पूर्ण जानकारी के प्रमाण मिलते हैं।

भामह के समय तक गौड़–विदर्भ आदि रीतियाँ प्रादेशिक आधार पर प्रचलित रहीं।

दण्डी आदि ने अलंकार, गुण दोष, मार्ग, रीति का विवेचन किया। तदनन्तर रस का विवेचन होने से रीतियों और गुण का सहृदय की चित्तवृत्तियों के आधार पर विवेचन हुआ। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में रीति को कवि–स्वभाव माना।

इस इकाई में रीति सिद्धान्त की व्याख्या, वामन से पूर्ववर्ती एवं पश्चातवर्ती रीति विषयक वर्णन तथा अन्य काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों के साथ रीति सिद्धान्त के सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

12.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यालङ्कारसूत्राणि, (वामनाचार्य), सम्पा. नारायणराम आचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983.
2. भारतीय काव्यशास्त्र, रामचन्द्रवर्मा, अनिता प्रकाशन, चरखेवालान, दिल्ली, 1987.
3. काव्यप्रकाश, (मम्मट) सम्पा. विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2006.
4. काव्यशास्त्रीय निबन्ध, डॉ. कृष्णदेव झारी, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली
5. रसाभिव्यक्ति, डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001.
6. श्रृंगार प्रकाश – (भोजदेव), सम्पा. रेवा प्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, 2007.
7. सरस्वतीकण्ठाभरण – (भोजदेव), सम्पा. कमेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्भा, ओरिएण्टालिया, वाराणसी, 2006.
8. साहित्य दर्पण – (विश्वनाथ), सम्पा. शेषराजशर्मा, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2007.
9. वक्रोक्तिजीवितम् – (कुन्तक), सम्पा. डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1988.
10. नाट्यशास्त्र (भरत), सम्पा. पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2001.
11. हर्षचरित (बाणभट्ट) सम्पा. बालगोविन्द, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1994.
12. काव्यालंकार (भामह), सम्पा. बटुकनाथ एवं बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002.
13. काव्यादर्श (दण्डी) सम्पा. शिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1990.
14. काव्यालंकार (रुद्रट), सम्पा. सत्यदेव चौधरी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1990.
15. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), अभिनव विरचित लोचन टीका रहित, सम्पा. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, 2004.

इकाई—13

वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत के चतुर्थ प्रश्न–पत्र की 13वीं इकाई 'वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक' के अध्ययन से विद्यार्थी निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर सकेंगे :–

- आचार्य कुन्तक प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त का अर्थ एवं स्वरूप समझ सकेंगे।
- वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य मानने वाले आचायो तथा वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र मानने वाले आचार्यों के मत जान सकेंगे।
- वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस की स्थिति का आकलन कर सकेंगे।
- वक्रोक्ति और अलंकार : वक्रोक्ति और रीति : वक्रोक्ति और ध्वनि आदि की परस्पर तुलना को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है। भरत का नाट्य शास्त्र ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी की रचना है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र भो अपने मूल रूप में 'सूत्र काल' (ईसा पूर्व 5वीं–6ठी शताब्दी) की रचना मानी जाती है। भरत मुनि ने अपने से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र परम्परा में ब्रह्मा, नन्दिकेश्वर, तुण्ड, वासुकि आदि आचार्यों का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा भरतमुनि से भो प्राचीन है।

प्राचीन काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास क्रम को प्रायः चार युगों में देखा जा सकता है :–

(1) प्रागैतिहासिक काल में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तक का काल भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव और रस सिद्धान्त तथा नाट्य सिद्धान्तों का निर्माण काल कहा जा सकता है।

(2) ईसा की चतुर्थ–पंचम शताब्दी से दशम शताब्दी तक का समय काव्यात्मा की गवेषणा और विभिन्न सिद्धान्तों के वाद–विवाद तथा व्याख्या और विवेचना का युग रहा। इसी समय अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि काव्य सिद्धान्तों की स्थापना हुई।

(3) दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी से अठाहरवीं शताब्दी तक आचार्य मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक का समय एक समन्वय का युग रहा, तब तक अलंकार और अलंकार्य का भद स्पष्ट हो गया था और रस–ध्वनि में सभो सिद्धान्तों के समन्वय की प्रवृत्ति विकसित हुई थी।

(4) बीसवीं शताब्दी में भारतीय काव्यशास्त्र के नवनिर्माण और पुनरुत्थान के कई प्रयोग हुए जिनमें प्राचीन सिद्धान्तों की नई व्याख्याएँ विभिन्न भाषाओं में हुई।

भारतीय काव्य–शास्त्र में छः प्रमुख काव्य सिद्धान्तों का उदय हुआ–

1. **रस सिद्धान्त**– भरतमुनि द्वारा प्रवर्तित तथा रुय्यक, विश्वनाथ द्वारा समर्थित।
2. **अलंकार सिद्धान्त**– भामह द्वारा प्रवर्तित तथा दण्डी, रुद्रट आदि द्वारा समर्थित।
3. **रीति सिद्धान्त**– वामन द्वारा प्रवर्तित।
4. **ध्वनि सिद्धान्त**– आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित तथा अभिनवगुप्त, मम्मट आदि द्वारा समर्थित।
5. **वक्रोक्ति सिद्धान्त**– कुन्तक द्वारा प्रवर्तित।
6. **औचित्य सिद्धान्त**– क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित।

इनमें से रस, अलंकार तथा ध्वनि, सिद्धान्त प्रवर्तित तथा समर्थित होने से 'सम्प्रदाय' के रूप में जाने गये– रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय। रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त प्रवर्तित मात्र होने किन्तु उत्तरवर्ती काल में अधिक समर्थन प्राप्त नहीं होने से सिद्धान्त कहलाए– रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त। औचित्य प्रतिष्ठापित वाद या विचार की सरणि में गिना जाने लगा।

प्रस्तुत इकाई में आप कुन्तक द्वारा प्रवर्तित वक्रोक्ति सिद्धान्त के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

13.2 वक्रोक्ति सिद्धान्त : प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इस इकाई में कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के आधार पर वक्रोक्ति सिद्धान्त का विवेचन किया जाएगा। साथ ही भामह विरचित काव्यालंकार; आनन्दवर्धन रचित ध्वन्यालोकः, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीका; दण्डी रचित काव्यादर्श, भोजराज कृत श्रृंगारप्रकाश; वामन कृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; रुद्रट कृत काव्यालंकार; मम्मट कृत काव्यप्रकाश आदि प्रमुख ग्रन्थों में प्राप्त वक्रोक्ति सिद्धान्त के संकेतों को भो इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त और अन्य सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध भो व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कुन्तक का परिचय प्रस्तत किया जा रहा है।

13.2.1 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कुन्तक का परिचय

वक्रोक्तिकार के कुन्तलक और कुन्तक दोनों नाम उपलब्ध हैं किन्तु वक्रोक्तिकार के रूप में कुन्तक नाम प्रसिद्ध हुआ। प्रकृत ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवितम् आचार्य कुन्तक की कृति है, जिसे आचार्य ने कारिका और वृत्ति रूप में लिखा है। वर्तमान में जो वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ प्राप्त हैं उसमें चार उन्मेष है तथा तीन भाग प्राप्त हैं– (1) कारिका भाग, (2) वृत्ति भाग तथा (3) उदाहरण भाग। कारिका को समझने हेतु वृत्ति लिखी तथा सिद्धान्त को समझने के लिये अनेक उदाहरणों द्वारा स्वसिद्धान्त को पुष्ट किया है। कुन्तक ने कारिका के अतिरिक्त अपने वृत्ति भाग में बीच–बीच में स्वरचित श्लोक भो दिये हैं जिन्हें अन्तरश्लोक नाम दिया है।

ग्रन्थ के अभिधान का कथन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं कि यद्यपि अनेक काव्यालंकार ग्रन्थ हैं किन्तु लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिये, विशेष प्रकार के आह्लादकारी वैचित्र्यभाव की निष्पत्ति के लिये यह काव्यालंकार ग्रन्थ लिखा जा रहा है–

''लोकोत्तरचमत्कारवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।2।।

उपमा आदि समस्त अलंकारों को एकमात्र वाक्यवक्रता में अन्तर्निहित कर उपमादि प्रमेय समूह को ग्रन्थ का अभिधेय कहा है– ''उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्''।

अलंकारों का अन्तर्भाव करने वाले वाक्यों का वक्रभाव हजारों प्रकार का हो सकता है।

वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार कुन्तक ने नवीनता प्रदर्शित की है। कुन्तक ने अलंकार ग्रन्थ का प्रयोजन अलग बताया है और अलङ्कार्य काव्य का प्रयोजन अलग से बताया है। अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन है सामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि। अलङ्कार्यभत काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा कि –

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।3।।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।4।।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।5।।

(1) काव्य का प्रथम प्रयोजन होता है कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टयसिद्धि का उपाय होता है।

(2) काव्य का दूसरा प्रयोजन है उसका समुचित व्यवहार का बोध कराने में सहायक होना। यथा राजा, भत्यादि का अनुकरणीय व्यवहार।

(3) काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है उसके आस्वाद से सहृदयों को तत्काल आनन्द की अनुभति कराना।

आचार्य कुन्तक चूंकि इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं अतः हमें उनके कालनिर्धारण के बारे में भो विचार कर लेना चाहिये।

कुन्तक का काल

आचार्य कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' उपलब्ध होता है जो कि अपूर्ण एवं खण्डित है। अतः ग्रन्थ की समाप्ति पर काल इत्यादि का निर्देश कवि ने किया था या नहीं, यह पता नहीं चल पाया है। परवर्ती ग्रन्थों में उनके उल्लेख से उनकी काल गणना की जा सकती है–

(1) ध्वन्यालोक की कारिका का उल्लेख कुन्तक ने अपनी रचना में किया है एवं कई स्थलों पर वृत्तिभाग के उदाहरण भो दिये हैं। ध्वन्यालोक के कारिकांश एवं वृत्यंश दोनों से पूर्णतः परिचित होने से स्पष्ट है कि वे आनन्दवर्धन के परवर्ती थे।

(2) राजशेखर का एक विचित्रमार्गानुयायी कवि के रूप में आचार्य कुन्तक ने नामोल्लेख भो किया है। अन्य कई प्रमाणों से भो कुन्तक के काल की पूर्व सीमा राजशेखर के बाद निर्धारित होती है। राजशेखर ने अपने तीनों रूपों में अपने आपको महेन्द्रपाल का गुरू बताया है। महेन्द्रपाल का पुत्र था महिपाल जो आर्यावर्त का सम्राट था। महेन्द्रपाल का काल 903–907 ई. तथा महिपाल का काल 917 ई. है। अतः राजशेखर का काल 903 ई. स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर कुन्तक के काल की पूर्व सीमा 920 या 25 ई. के बाद ही निश्चित होती है।

(3) कुन्तक का नाम से कथन महिमभट्ट विद्याधर व नरेन्द्रप्रभ सूरी ने भो किया है। इन सबमें सबसे प्राचीनतम महिमभट्ट है और इसमें भो विद्वानों में दो मत नहीं है कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती थे। अन्य भो कई मत इस काल गणना के विषय में द्रष्टव्य है किन्तु अन्त में कुन्तक को राजशेखर ओर अभिनवगुप्त के मध्य दशम शतक में रखा जा सकता है।

कुन्तक का परिचय – आचार्य कुन्तक कश्मीरी एवं आचार्य अभिनवगुप्त के समसामयिक थे। कुन्तक परमशैव प्रतीत होते हैं। शिव की वन्दना में शक्ति और वैचित्र्याधायक शिव को नमस्कार किया है। कुन्तक ने चिद् रूप शक्ति और उसका परिस्पन्द काव्य रचना में उपयोगी माना है।

अब कुन्तक प्रतिपादित काव्य का स्वरूप बताते हुए काव्य का लक्षण दिया जा रहा है –

काव्य लक्षण

काव्य लक्षण को प्रस्तुत करते हुए कुन्तक अलङ्कृत शब्द और अर्थ को ही काव्य कहते हैं। यदि हम काव्य में अलङ्कार्य और अलङ्कार का विवेचन अलग–अलग करते हैं तो वह विशिष्ट बुद्धि के द्वारा।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

सहृदयों को आह्लादित करने वाले एवं वक्रकविव्यापार से सुशोभित होने वाले वाक्यविन्यास में साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। वस्तुतः कुन्तक का सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी काव्यलक्षण की व्याख्या को प्रस्तुत करता है। इस काव्य लक्षण में पाँच तत्त्वों का कुन्तक ने कथन किया है।

(1) शब्द और अर्थ

(2) साहित्य

(3) वक्रकविव्यापार

(4) बन्ध और

(5) तद्विदाह्लादकारित्व

इसके पश्चात् शब्द और अर्थ और उनके साहित्य का व्याख्यान करने के बाद कुन्तक वक्रकाव्यव्यापार को प्रस्तुत करते हैं। इसके 6 विभदों का विस्तार से कथन किया है। कवि प्रस्थान के तीन मार्ग एवं उनमें निहित चार गुणों का भो कथन किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति की स्थापना स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में करने के उद्‌देश्य को लेकर वक्रोक्तिजीवितम् शास्त्र प्रवृत्त एवं समाप्त हुआ है।

13.2.2 वक्रोक्ति का स्वरूप–

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' रखा क्योंकि उन्होंने ही वक्रोक्ति को काव्य के जीवन के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

वक्रोक्ति शब्द का अर्थ – वक्र+उक्ति – वक्रोक्ति। अर्थात वक्रता से कही जाने वाली बात। सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न एवं ;वक्रताद्ध अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन वक्रोक्ति कहलाता है। सामान्य व्यक्ति अपनी बात को बहुत साधारण से शब्दों में कर्ता, क्रिया, कर्मादि लगाकर सीधे सीधे कह देता है किन्तु यदि कोई विशेष उद्‌देश्य से पृथक् और चमत्कारी कथन कहकर कोई विशेष अर्थ बताना चाहता हो, उस कथन को 'वक्रोक्ति' नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही वक्रोक्ति बताई है, यहाँ वैदग्ध्य का अर्थ है– विदग्धता, कवि की चारुता द्वारा उक्त पङ्क्ति वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति में जो वक्र पद पाया गया इसका अर्थ क्या है? विचार करें तो देखेंगे कि आचार्य कुन्तक न 10वीं कारिका में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य हैं किन्तु इनका अलंकार वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति विदग्धभङ्गीभणिति को कहते हैंः–

उभावेतावलङ्‌कार्यौ तयोः पुनरलङ्‌कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्‌गीभणितिरुच्यते।।10।।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या अपने ग्रन्थ में अनेकत्र की है।

1. वैदग्ध्यभङ्‌गीभणिति ही वक्रोक्ति है।
2. प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है।
3. वैदग्ध्य की विच्छित्ति से विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति कही जाती है।
4. प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी, षट् प्रकार की वक्रता विशिष्ट कवि व्यापार ही वक्रोक्ति है।

चूंकि कुन्तक का ग्रन्थ वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना को लेकर प्रवृत्त हआ है। अतः अनेकत्र उन्होंने वक्रोक्ति को स्पष्ट किया है। इसकी वक्रता में ध्वनिकार का समस्त ध्वनि प्रपंच एवं प्राचीनों का गुण व अलंकार भो समाविष्ट है।

कुन्तक की दृष्टि में वक्रोक्ति– विचित्र अभिधा को समस्त शब्दार्थ सौन्दर्य अपने भोतर समेट लेता है इसीलिये इसका नाम विचित्र अभिधा है। इसके बावजूद भो कुन्तक ने इसे एक अलङ्‌कार ही माना है। शब्दार्थ है अलङ्‌कार्य। अलङ्‌कार्य को अलङ्‌कृत करने के लिये उससे अतिरिक्त किसी अन्य साधन को होना चाहिये और वह अन्य साधन है वक्रोक्ति। किन्तु ये अलङ्‌कार कहों से लाकर जोडा नहीं जाता प्रत्युत् वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक इनका अभिधान ही अलङ्‌कार है इसलिये कुन्तक कहते हैं कि जैसे लोक में कटक केयूर आदि का योग देखा जाता है वैसे ही काव्य का अलङ्‌कार से योग नहीं होता बल्कि काव्य अलङ्‌कृत होता ही है। वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए कुन्तक कहते हैं–

''वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्धभंगी भणितिः वैदग्धं
विदग्धभावः, कविकम कौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भाणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।''

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र वर्णनशैली ;अभिधाद्ध का नाम वक्रोक्ति है। यह विचित्र अभिधा कविकम की निपुणता से निष्पन्न होती है और उस निपुणता से ही इसमें विच्छित्ति का आधान होता है।

वक्रोक्ति के चार प्रमुख लक्षण –

वक्रोक्ति लोकव्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्दार्थ की योजना से भिन्न कवि प्रतिभाजन्य चमत्कार के कारण सहृदय को आह्लादित करने वालो कथन शैली है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के सहृदय–हृदयाह्लादकारि' गुण पर जोर दिया है। वह वक्र प्रयोग तभो वक्रोक्ति कहलाता है जबकि सहृदय या काव्यमर्मज्ञ व्यक्ति को आनन्दित करे। अतः कुन्तक की वक्रोक्ति के ये चार प्रमुख लक्षण कहे गये हैं–

1. यह लोक–व्यवहार में प्रचलित तथा शास्त्र–व्याकरण तथा कोश आदि में प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न होती है।
2. इसकी विलक्षणता अथवा चमत्कार कवि प्रतिभाजन्य होता है।
3. इसका सम्बन्ध समस्त कविव्यापार अर्थात् रचना प्रक्रिया–वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, प्रसङ्ग तथा प्रबन्धनादि से है।
4. इसमें सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने की क्षमता रहती है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक अलङ्कार कहा और इसके अभाव में काव्य की स्थिति स्वीकार ही नहीं की।

कुन्तक ने विचित्र कविव्यापाररूपा एवं सहृदयहृदयाह्लादिका वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया हालाँकि परवर्ती आचार्यों को ये काव्यात्मा वक्रोक्ति को कहना मान्य नहीं हुआ। किन्तु कुन्तक ने तो अपने मत को बहुत पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

केवल वक्रोक्ति ही अलङ्कार है– कुन्तक का कहना है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं किन्तु जब हम साधारण बुद्धि से अलङ्कार्य और अलंकार का विभाजन करते हैं तो शब्द और अर्थ को तो हम अलङ्कार्य कहते हैं और शब्दार्थ युगल का अलंकार केवल एक वक्रोक्ति ही होती है। 'तयोः द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया द्वावप्यलङ्क्रियेते'।

13.2.3 कविप्रस्थान के तीन मार्ग

काव्य के विशेष लक्षण का विषय बताने के लिये मार्ग–भद के कारण होने वाले त्रैविध्य का कथन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं–

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।24।।

कवियों का प्रस्थान अर्थात् काव्य करने की प्रवृत्ति, उसके हेतु अर्थात् काव्य करने के कारणभ्त तीन मार्ग है–

1. सुकुमार मार्ग
2. विचित्रमार्ग
3. मध्यम मार्ग

तीन मार्ग संख्या देने के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ है। मार्गों का विवेचन करते हुए कुन्तक ने गौडी, वैदर्भा आदि रीतियों तथा उनके मार्गों का खण्डन किया है उनका कहना है कि यदि देश विदेश के आधार पर रीतियों का नामकरण किया जाए तो आनन्त्य दोष हो जाएगा। जैसे गौड से गौडी, पंचाल से पांचाली वैसे ही जितने देश उतनी रीतियाँ हो जाएंगी। अतः देशभद से रीतियों को जानना उचित नहीं।

काव्य की रचना किसी देश विशेष का धर्म नहीं होती। देश विशेष का धर्म तो वृद्धजनों की परम्परा पर आधारित होता है यथा किसी धर्म में ममेरी बहिन से विवाह उचित माना गया है तो किसी में अनुचित। अतः देशधर्म जिस प्रकार परिवर्तनीय होते हैं। उस प्रकार काव्यरचना की सहायिका रीतियाँ परिवर्तनीय नहीं होती। काव्य की रचना तो शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर आधारित होती है। शक्ति आदि को देश–विशेष का धर्म नहीं माना जा सकता। अन्यथा एक देश के सभो कवियो की शक्ति एक जैसी ही होनी चाहिये। किन्तु ऐसा देखने

में नहीं आता। अतः कह सकते हैं कि देश विशेष के आधार पर रीतियों का विभाजन जो किया गया है वह उचित नहीं है।

रीतियों को मार्गविभाग मानना उचित नहीं –

कुछ आचार्यों ने उत्तम, मध्यम और अधम भद से रीतियों का विभाजन कर दिया यथा–

(1) वैदर्भी – उत्तम रीति मार्ग

(2) गौडी – अधम रीति मार्ग

(3) पांचाली – मध्यम रीति मार्ग

यदि इन तीन उत्तम–मध्यम–अधम मार्गों को काव्य की रचना का कारणभत् मानें तो इसका निरसन करते हुए कुन्तक ने कहा है कि इस प्रकार के मार्ग त्रैविध्य की स्थापना करना उचित नहीं है। अन्यथा वैदर्भी के अतिरिक्त अन्य रीतियों का उपदेश किया गया तो व्यर्थ सिद्ध होगा क्योंकि ऐसा कौनसा कवि होगा जो जानते हुए भो उत्तम काव्य को छोडकर मध्यम और अधम में रीतियों रचना करेगा और ऐसा कौन सा पाठक होगा जो उत्तम काव्य को छोडकर मध्यम और अधम को पढ़ेगा। यदि कोई रचना सम्यक् रूप से काव्य कही जा सकती है तो वो उत्तम काव्य ही है क्योंकि काव्य वही होता है जो सहृदयाह्लादकारी हो और काव्यलक्षण में समन्वित हो।

कुन्तक के अनुसार – वह आह्लादकारित्व सहृदय के हृदय में संवेद्य होता है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह शब्द, अर्थ, और वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कष से भिन्न उत्कष वाला होता है। सहृदयहृदय संवेद्य किसी अनिर्वचनीय सौकुमार्य से रमणीय होता है। कुन्तक ने मार्ग विभाजन का आधार कवि स्वभाव को स्वीकार किया है। जिस कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसी ही उसकी शक्ति होती है और उसी शक्ति के अनुरूप उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास होते हैं।

1. **सुकुमार मार्ग**– सुकुमार स्वभाव की सुकुमार शक्ति होती है क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभद होता है। उस सुकुमार शक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर वह सुकुमार मार्ग के अभ्यास में लगता है और सुकुमार काव्य की रचना करता है।

सुकुमार मार्ग का कथन करते हुए कुन्तक ने, उसके लक्षण को प्रस्फुटित किया है–

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः।।25।।
यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।।28।।
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः।।29।।

तात्पर्य यह है कि कवि की ताजगीपूर्ण प्रतिभा से प्रकट नये शब्द और अर्थ से कोमल, अनायास निर्मित अल्प अलंकार वाली रचना सुकुमार है। सुकुमार मार्ग में सुकुमारताजन्य जो रमणीयता के द्वारा प्रवाहित होने वाला जो कुछ भो सहृदयहृदयाह्लादकारित्वरूप जो वैचित्र्य, शोभातिशय का पोषण करता है, वह सब कवि की प्रतिभा से ही उल्लसित होता है।

ऐसा वह सुकुमार नाम का मार्ग कुन्तक ने बताया है जिस मार्ग से कालिदास प्रभति महाकवि विकसित हुए फूलों के वन से गुजरने वाले भमरों के समान काव्य रचना में प्रवृत्त हुए हैं।

2. **विचित्र मार्ग**– विचित्र स्वभाव वाला कवि विचित्र काव्य को उत्पन्न करता है। तलवार की धार क समान यह मार्ग अति दुःसंचारयोग्य है। कुछ ही कवि इस मार्ग से जा सके हैं, इसमें पुरानी वस्तु भो भणितिवैदग्ध्यवशात् लोकोत्तर उत्कृष्टता तक पहुँच जाती है। इस मार्ग का कवि अपनी प्रतिभा के प्रसाद से वस्तु के अन्यथा रूप

को हृदयहारी दूसरे रूप में रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। इसमें सरस अभिप्राय से युक्त पदार्थों का स्वरूप किसी लोकोत्तर वैचित्र्य से उत्तेजित करके प्रस्तुत किया जाता है। कुन्तक वक्रोक्तिजीवितम् में कहते हैं–

स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र वध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः।।41।।

विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा।।42।।

सोऽतिदुःसंचरो येन विदग्धकवयो गताः।
खङ्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः।।43।।

कवि ने यहां इस मार्ग की दुर्गमता तथा उस पर प्रस्थान करने वालों की विचरण की परिपक्वता का प्रतिपादन किया है। इस मार्ग के निपुण कवियों में कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभ्ति व राजशेखर को गिना है। विचित्र मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों के एकांश से भो वैचित्र्य बोधक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। उसके कई उदाहरण कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् में प्रस्तुत किये हैं।

3. **मध्यम मार्ग**– मध्यम स्वभाव वाला कवि मध्यम काव्य को प्रस्तुत करता है। मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों की सम्मिलित विशेषताऐं विद्यमान रहती हैं। कुन्तक के अनुसार–

''मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितय संपदः।।51।।

इसमें कवि की शक्ति व व्युत्पत्ति से सम्भव होने वाला सौन्दर्य पराकाष्ठा तक होता है और सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुण इस मार्ग में मध्यमवृत्ति का आश्रयण करके किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता है। इस मार्ग के कवियों में कुन्तक ने मातृगुप्त मायुराज व मंजीर का नाम ग्रहण किया है।

कुन्तक ने प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य गुणो के उदाहरण पूर्वक मध्यम–मार्ग का विवेचन कर मध्यम मार्ग के कवियों को विरला ही बताया।

13.2.4 वक्रता के छः प्रकार –

कुन्तक ने कवि व्यापार ;काव्य रचनाद्ध की वक्रता के मुख्य छः भद बताए हैंः–

(1) वर्णविन्यास वक्रता,

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता,

(3) पदपरार्धवक्रता,

(4) वाक्यवक्रता,

(5) प्रकरण वक्रता, तथा

(6) प्रबन्ध वक्रता।

13.2.4.1 वर्णविन्यास वक्रता–

वर्णों के विशेष गठन से निर्मित, काव्यवेत्ता को आह्लादित करने वाला शब्दों की शोभा का आधिक्य ही वर्णविन्यास वक्रता है।

कुन्तक के अनुसार– जिसमें एक दो या बहुत से वर्ण थोडे–थोडे अन्तर से बार–बार (उसी रूप में) गथित हों, वह वर्ण–विन्यास की वक्रता कहलाती है।

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमाना पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता।।2/1।।

यह अनुप्रास का ही रूप है। इसके तीन भद हैं–

(1) **वर्गान्त से युक्त स्पर्श** अर्थात् कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग के प्रथम चार वर्णों का अन्तिम वर्ण ङ ण न म से योग का नाम वर्गान्त योग है जैसे गंगा, पंच, रत्न शम्भ आदि। इनकी आवृत्ति वर्ण–विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार है।

(2) **त ल न आदि की द्विरुक्ति** अर्थात् त ल और नकार आदि का दो बार उच्चरित होकर बार–बार निबद्ध होना दूसरा प्रकार है। जैसे पतित, तलना, सनातन आदि।

(3) इन दोनों ;स्पर्श तथा त ल न आदिद्ध से भिन्न शेष व्यंजन वर्णों का रेफआदि से संयुक्त रूप से निबद्ध होना तीसरा प्रकार है। व्रण, सूर्य आदि। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों प्रकार में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोडे–थोडे व्यवधान ;अन्तरद्ध से आने चाहिए।

इन सभो के उदाहरणों के लिये वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के द्वितीय–उन्मेष का अवलोकन कर सकते हैं।

13.2.4.2 पद–पूर्वार्द्ध वक्रता–

वर्गों के समुच्चय का नाम पद है। वर्ण के उपरान्त पद काव्य का दूसरा अवयव है। कुन्तक ने इसे ठीक ही दूसरा स्थान दिया है। इस पद के दो अंग है– पूर्वार्द्ध और परार्द्ध।

व्याकरण में 'सुप्तिङन्तं पदम्' सुबन्त रामः आदि तथा तिङन्त गच्छति आदि को पद कहा गया है। प्रकृतिगत वक्रता को पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा प्रत्ययगत वक्रता को पदपरार्द्धवक्रता कहते हैं। पदपूर्वार्द्धवक्रता के प्रमुख आठ भद हैं–

(1) **रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता** में कवि अपनी प्रतिभा के बल से रूढ़ अथवा लोक प्रचलित तथा शास्त्रनिबद्ध अर्थ में असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोप करता है अथवा विद्यमान अर्थ का अतिशयपूर्ण वर्णन करता है। इसमें वक्रता का आधार रूढ़ि अथवा परम्परागत मान्यता का वैचित्र्य होता है।

(2) **पर्यायवक्रता** में चमत्कारपूर्ण तथा असम्भाव्य अर्थसूचक समानार्थवाची शब्दो का प्रयोग होता है।

(3) **उपचार–वक्रता** में भिन्न एवं दूरस्थ वस्तु की किसी वस्तु के साथ लेशमात्र सम्बन्ध में अभद स्थापना होती है। इसके कई रूप हैं– अमूर्त पर मूर्त का तथा अचेतन पर चेतन का आरोप आदि।

(4) **विशेषण–वक्रता** में विशेषण के विशिष्ट प्रयोग के कारण कारक अथवा क्रिया में चमत्कार की सृष्टि होती है।

(5) **संवृत्ति–वक्रता** में वैचित्र्य कथन के प्रयोजन से सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा वस्तु गोपन किया जाता है।

(6) **वृत्तिवैचित्र्य–वक्रता** में समास, तद्धित तथा कृदन्त आदि व्याकरण की वृत्तियों के प्रयोगजन्य चमत्कार की सृष्टि होती है।

(7) **लिंगवैचित्र्य –वक्रता** में लिंग विषयक प्रयोगों के कारण चमत्कार की सृष्टि होती है।

(8) **क्रिया वक्रता** में क्रिया के प्रयोगों में चमत्कार होता है। इसके कई भद हैं– (क) क्रिया की कर्ता से अभिन्नता, (ख) कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता, (ग) क्रिया विशेषण की विचित्रता, (घ) क्रिया के अनेक रूपों में उपचार (सादृश्य के कारण आरोप) विचित्रता तथा (ङ) क्रिया के कम आदि के संवरण की विचित्रता।

13.2.4.3 पदपरार्द्धवक्रता–

पद का परार्ध प्रत्यय होता है, अतः इसे प्रत्यय वक्रता भो कहते हैं। इसके छः प्रमुख भद कुन्तक द्वारा निरूपित हैं–

(1) **कालवैचित्र्य वक्रता** – में काल के प्रयोग पर वैचित्र्य आश्रित होता है।

(2) कारक वक्रता में कारकों के विपर्यय— कर्त्ता को कम या करण का रूप तथा कम या करण को कर्त्ता का रूप देने से अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती है।

(3) संख्या अथवा वचन वक्रता में वचन के विपर्यास— एक वचन के स्थान पर बहुवचन तथा बहुवचन के स्थान पर एकवचन के प्रयोग से चमत्कार की सृष्टि होती है।

(4) पुरुष वक्रता में पुरुष—विपर्यय अर्थात् उत्तम या मध्यम पुरुष के प्रतिकूल प्रयोग द्वारा चमत्कार की सृष्टि होती है।

(5) उपग्रह—वक्रता में औचित्य के कारण आत्मनेपदीय तथा परस्मैपदीय धातुओं में एक का ग्रहण रहता है और इस ग्रहण में ही चमत्कार निहित रहता है।

(6) प्रत्यय—वक्रता में एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर सौन्दर्य सृष्टि की जाती है।

13.2.4.4 वाक्य वक्रता

अनेक पदों के संयोजन से वाक्य का निर्माण होता है। वाक्य, वाच्य अथवा वस्तुगत वक्रता को सामान्यतः एक सा ही माना जाता है। वाक्य—वक्रता दो प्रकार की होती है— सहजा और आहार्या। सहजा के भो दो प्रकार होते हैं— स्वभाव प्रधान तथा रस प्रधान। वस्तुतः कवि द्वारा जब सहज शक्ति से वस्तुस्वभाव का सुंदर वर्णन किया जाता है तब वह सहजा वक्रता कहलाती है और आहार्य वक्रता तब प्रतीत होती है जब कवि द्वारा शिक्षा अभ्यास, व्युत्पत्ति से अर्जित वक्रता का आश्रय लेकर काव्य—सर्जन किया जाता है। इसमें अर्थालंकारों के प्रयोग को अंतभ्‌त किया जा सकता है।

13.2.4.5 प्रकरण वक्रता—

प्रकरण का अभिप्राय है— प्रबंध का एक देश (प्रबंधस्यैकदेशः)। समग्र कथा विधान प्रबंध होता है और उसके अंग, अवयव अथवा प्रसंग 'प्रकरण' कहलाते हैं। कथा विधानगत प्रकरणों में निहित काव्य—सौंदर्य प्रकरण वक्रता कहलाती है। इसके कुंतक ने निम्नांकित भद निरुपित किए हैं :

1. भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना, 2. उत्पाद्य लावण्य, 3. प्रधान कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य— उपकारक भाव, 4. विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना, 5. जल क्रीड़ा आदि रोचक प्रसंगों का वर्णन, 6 प्रधान उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर अप्रधान प्रसंग की उद्‌भावना, 7 गर्भांक, 8. प्रकरणों में पूर्वापर अन्विति।

13.2.4.6 प्रबंध वक्रता

प्रबंध—वक्रता की परिधि व्यापक है। इसके अन्तर्गत प्रबंध काव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का संपूर्ण वस्तु विन्यास अर्न्तभ्‌त हो जाता है। कुंतक ने इसके छह भद निरूपित किए हैं—

(1) मूल रस परिवर्तन— जहां कवि पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर आधारभ्‌त ऐतिहासिक कथावस्तु में अपनी मौलिक प्रतिभा से मूल रस में परिवर्तन करता है, वहां कुन्तक की प्रबन्धवक्रता का प्रथम रूप होता है।

(2) नायक के चरित्र का उत्कष करने वाली चरम घटना पर ही इतिहास प्रसिद्ध कथानक की समाप्ति प्रबन्धवक्रता का दूसरा रूप है।

(3) बीच में ही विछिन्न हो जाने के कारण नीरस—सी लगती हुई कथा के मध्य में किसी आकस्मिक प्रसंग की अवतारणा द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि तथा रस संचार प्रबन्धवक्रता का तीसरा रूप है।

(4) एक फल की प्राप्ति में तत्पर नायक को अपने माहात्म्य के चमत्कार से अनेक फलों की प्राप्ति के रोचक प्रसंगों की कल्पना द्वारा नायक के उत्कष की वृद्धि प्रबन्ध—वक्रता का चौथा रूप है।

(5) प्रधान कथा के द्योतक—चिह्न—रूप नामकरण का वैचित्र्य प्रबन्ध वक्रता का पांचवा रूप है।

(6) उद्देश्य अथवा तात्पर्य की विचित्रता के कारण अनेक कवियों द्वारा वर्णित कथा की नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुति प्रबन्धवक्रता का षष्ठ रूप है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार कवि–प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति का नाम वक्रता है। कवि प्रतिभा के आनन्त्य के अनुसार वक्रता के भो अनन्त रूप है।

13.2.5 कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की काव्यशास्त्र को देन

कुन्तक ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में जैसे कवि व्यक्तित्त्व के अवदान तथा सहृदय के आस्वादन को भो आधाररूप में ग्रहण किया है, वैसे ही वक्रोक्ति के भदों की मीमांसा में भो सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण अपनाया है। वक्रोक्ति को व्यापक काव्यसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये वर्ण विन्यास से लेकर विराट प्रबन्ध कल्पना तक तथा उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक इसके स्वरूप को विस्तार से प्रतिपादित किया है।

कुन्तक ने जो वक्रोक्ति के छः भद एवं उनके भो उपभद प्रस्तुत किये हैं वे काव्यशास्त्र को एक अपूर्व देन हैं। वक्रोक्ति कवि की कविता में चैतन्य बनाए रखता है।

13.3 वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य मानने वाले आचार्य

13.3.1 भामह–

काव्य शास्त्र के आरम्भिक आचार्यों में दण्डी, भामह आदि आते हैं। इन्होंने काव्य की उक्तियों में सौन्दर्य, आकषण, शोभा आदि के समावेश के मूल कारण को 'अलङकार' कहा है। और उस अलंकार का मूल, वे काव्य में निहित अतिशयता एवं वक्रता में मानते हैं। भामह की वक्रोक्ति को अलङ्कार मानने की बात का समर्थन आनन्दवर्धन ने भो किया है। भामह ने अनेकधा वक्रोक्ति की चर्चा की है वे काव्य और अलंकार विशेष न कहकर वक्रोक्ति को काव्य का तत्त्व विशेष मानते हैं, जो काव्य के प्रतिप्रसङ्ग में अनुस्यूत रहता हो। वक्रोक्ति को काव्य का अपरिहार्य धर्म माना है। अतः वक्रोक्ति को भामह ने सर्वालङ्कार रूप माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में इसको स्वीकार भो किया है–

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना।।

13.3.2 आनन्दवर्धन –

आनन्दवर्धन ने भो भामह के मत का समर्थन किया। उनका कहना है कि अतिशय योग काव्य में पाया जाता है और अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार में दिखाई देती है उसमें चारुत्वातिशययोग दिखता है। जहां कवि प्रतिभा दिखाई नहीं देतो वहां अलङ्कार कथन मात्र के लिये होता है, ध्वन्यालोकवृत्ति में वक्रोक्ति को आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति का पर्याय एवं सर्वालङ्कार रूप स्वीकार किया है। ''प्रथमं तावदतिशयोक्तिगभता सर्वालङ्कारेषु शक्य क्रिया। कृतैवचसा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्पति।...... भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तं–सैषासर्वेव वक्रोक्तिः.....सैव **सर्वालङ्काररूपा** इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।''

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति का चमत्कार कवि प्रतिभाजन्य एवं विषयानुकूल ही स्वीकार किया है–

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालङ्कृतिः।
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैवक्रोक्ति शून्यं च यत्।।

13.3.3 अभिनवगुप्त–

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर अपनी लोचन टीका में उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए कहा है–

''वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना, वक्रोक्ति शून्यशब्देन सर्वालङ्कारभावश्च उक्तः।'' इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का अर्थ उत्कृष्ट पदरचना और उसके अन्तर्गत सभो अलंकारों का समावेश किया है। अभिनव गुप्त तो यहां तक मानते हैं कि समस्त अलंकारों के बीजभ्त

;विशेषकर अर्थालङ्कारों केद्ध तथा कथा में वैचित्र्य लाने वाले वक्रोक्तिरूप चमत्कार ही लक्षण शब्द से जाने जाते हैं– 'समस्तार्थलङ्कारवर्गस्य बीजभ्ताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा, लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते।'

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भो वक्रोक्ति को सर्वालङ्काररूप में स्पष्ट किया।

13.3.4 दण्डी–

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वीकार तो किया किन्तु उसकी व्यापकता को सीमित कर दिया। उन्होंने अलंकार वाङ्मय को दो रूपों में व्यक्त किया है– 1. स्वभावोक्ति, 2. वक्रोक्ति। वक्रोक्ति की शोभा श्लेष के द्वारा मानी हैः–

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।

वक्रोक्ति में साक्षात् वर्णन के स्थान पर चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, उपमादि को दण्डी ने वक्रोक्ति के ही प्रकार माना है। 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ताः अलङ्काराः उच्यन्ते। उनके मत में स्वभावोक्ति अतिरिक्त अन्य अलंकारों में श्लेष सौन्दर्य की सृष्टि करता है। भिन्न–भिन्न प्रकार की कल्पनाओं से मण्डित वक्र–सूक्तियां ही वक्रोक्ति है। दण्डी ने अतिशयोक्ति को सर्वालंकारों का मूल माना एवं वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायरूप में ग्रहण किया। उनके अनुसार लोकोत्तर वर्णनेच्छा ही अतिशयोक्ति है–

विवक्षा या विशेषस्य लोकोसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा।।

इस प्रकार दण्डी ने भावयुक्त वाक् भगिमा को ही वक्रोक्ति कहा है तथा अन्य सभो अलङ्कारों को इसी के आश्रित कहा है।

दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को वाणी का उत्तम–भ्षण कहकर ज्ञापकहेतु के उदाहरणस्वरूप मान्यता दी–

''गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्निवासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने।।''

दण्डी के मत में स्वभावोक्ति उत्तम अलङ्कार है और वक्रोक्ति भो अलङ्कारस्वरूप मान्य है किन्तु निश्चित सीमा में।

13.3.5 भोजराज

भोजराज ने अपने ग्रन्थ श्रृंगारप्रकाश में सम्पूर्ण वाङ्मय का विभाजन त्रिधा किया है–

1. वक्रोक्ति
2. रसोक्ति
3. स्वभावोक्ति

भोजराज के अनुसार 'उपमा' आदि अलङ्कारों का प्राधान्य होने पर 'वक्रोक्ति' विभावानुभावादि के संयोग से निष्पन्न होने पर रसोक्ति और माधुर्य ओज आदि गुणो के प्राधान्य होने पर 'स्वभावोक्ति' होती है।

इससे भो स्पष्ट है कि भोजराज ने भो वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है।

13.4 वक्रोक्ति को एक अलङ्कारमात्र मानने वाले आचार्य

13.4.1 वामन –

वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में वक्रोक्ति को सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालङ्कार माना है। वामन ने न तो वक्रोक्ति को काव्य का स्वरूपाधायक प्राण तत्त्व माना है और न ही मूल तत्त्व माना है और न हि सम्पूर्ण अलङ्कारों के मूल में इसे अनिवार्य रूप से रखा है। वे इसे अन्य अलंकारों की भांति एक अलंकारमात्र मानते हैं। इन्होंने 'सादृश्य

निबन्धना लक्षणा' को ही वक्रोक्ति माना है और असादृश्य निबन्धना लक्षणा में वक्रोक्ति स्वीकार नहीं की है। वामन ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार रूप में भले ही सीमित कर दिया है परन्तु उनके दस शब्द गुणों तथा दस अर्थ गुणों में से अनेक गुणों में कुन्तक प्रतिपादित अनेक वक्रोक्ति–भदों का सहज अन्तर्भाव हो जाता है।

13.4.2 रूद्रट –

वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के बाद रूद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया। रूद्रट के अनुसार वक्रोक्ति में सामान्य धर्म विच्छित्ति तो है किन्तु वह एक अलंकार विशेष है।

वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालङ्कार माना जबकि रूद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के रूप में प्रस्तुत किया।

13.4.3 मम्मट –

मम्मटाचार्य ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार ही माना है। अग्नि पुराण में वक्रोक्ति की शब्दालङ्कार के रूप में स्वीकृति हुई ह –

'वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेन कृता द्विधा।' इसका समर्थन करते हुए मम्मटाचार्य ने भो वक्रोक्ति को साधारण शब्दालंकार के रूप में माना है।

13.4.4 विश्वनाथ –

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'वक्रोक्तिअलङ्कार विशेषरूपत्वात्' कहकर वक्रोक्ति को सामान्य अर्थात् अलङ्कारों का मूल न मानकर एक शब्दालङ्कार विशेष ही माना है। कविराज विश्वनाथ ने अपने मत को विभिन्न प्रकार के खण्डनों से निवृत्त कर उसका परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया एवं स्वयं की, बाणभट्ट की और सुबन्धु की ओर से वक्रोक्ति के नैपुण्य को स्वीकार किया।

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग निपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा।।

अतः आचार्य विश्वनाथ वक्रोक्ति ज्ञान में निपुण थे और उन्होंने वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार विशेष के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

13.5 अन्य आचार्यों के वक्रोक्ति उल्लेख

13.5.1 बाणभट्ट –

महाकवि बाणभट्ट ने वक्रोक्ति शब्द को क्रीडालाप अथवा परिहास कथन के रूप में प्रस्तुत किया है। 'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन' तथा 'एषापि बुध्यत एवैतावती वक्रोक्तिः'।

13.5.2 रूय्यक –

रूय्यक ने अर्थालङ्कारों में वक्रोक्ति की गणना करते हुए उसका वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए कहा– ''वक्रोक्ति शब्दश्चालङ्कार सामान्य वचनोऽपीहालङ्कार विशेषे संज्ञितः।'' अर्थात् वक्रोक्ति शब्द सामान्य अलङ्कार के रूप में प्रयुक्त होने पर भो एक विशिष्ट अर्थ रखता है।

13.5.3 विद्यानाथ –

विद्यानाथ ने भो वक्रोक्ति को सामान्य अलङ्कार न मानते हुए अर्थालङ्कार की श्रेणी में रखा है। उनके अनुसार वक्रोक्ति एक अर्थालङ्कार है।

13.5.4 अप्पय दीक्षित –

अप्पय दीक्षित के वक्रोक्ति की स्थापना एक अर्थालंकार के रूप में की।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट हैं–

1. 'भामह' ने वक्रोक्ति को व्यापक रूप में प्रतिष्ठित किया था, दण्डी को भो अधिकांशत यह स्वीकार था परन्त रूद्रट ने इसे वाक् चातुर्य मात्र माना है और आनन्दवर्धन ने काव्य–वक्रता का महत्त्व विषयाश्रित मानते हुए उसे गौण स्थान दिया।

2. कुन्तक ने वक्रता को काव्य का मूलाधार स्वीकार कर वक्रोक्ति की ही काव्य–जीवित के रूप में स्थापना की।
3. भोज ने अपने समय में प्रचलित वक्रोक्ति सम्बन्धित धारणाओं का विवेचन करते हुए रसोक्ति को वक्रोक्ति से अधिक महत्त्व दिया।
4. रूय्यक ने वक्रोक्ति को अलंकार से अतिरिक्त महत्त्व देने का उल्लेख अवश्य किया किन्तु उसे काव्यजीवित मानने का कोई संकेत नहीं किया।
5. काव्यशास्त्र में कुन्तक की वक्रोक्ति अन्ततः काव्यजीवित के रूप में मान्य न होकर एक अलंकार के रूप में ही मान्य हुई।

इस प्रकार हमने इकाई 13.3, 13.4 एवं 13.5 अध्यायांशों के समग्र अध्ययन से जाना कि वक्रोक्ति को संस्कृत काव्यशास्त्र में मूलतः तीन अर्थों में जाना जाता है।

प्रथम अवस्था में अतिशयोक्ति की पर्यायरूप वक्रोक्ति सर्वालङ्कार सामान्य तत्त्व है। इस तथ्य को भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मटादि समस्ताचार्य स्वीकार करते हैं।

द्वितीय अवस्था में भामह द्वारा कथित यही वक्रोक्ति विलसित होकर एक सिद्धान्त का, प्रस्थान का रूप ले लेती है, जिसकी प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य कुन्तक को है।

तृतीय अवस्था में वक्रोक्ति एक सीमित अर्थ में, एक अलंकार विशेष के रूप में प्रस्फुटित होती है। वामन की दृष्टि में यह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालंकार है तो आचार्य रूद्रट और उसके अनुयायी मम्मट, विश्वनाथ आदि की दृष्टि में काकु और श्लेष पर निभर, शब्दालंकार मात्र सीमित है।

13.6 वक्रोक्ति एवं अन्य सिद्धान्त

13.6.1 वक्रोक्ति और अलंकार

अलंकारवादी और कुन्तक समान रूप से शब्दार्थ में काव्यत्व मानते हैं और अलंकार को काव्य की शोभा का मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। अलंकार वादियों की दृष्टि उपमा, रूपकादि अलंकारों तक ही सीमित है और कुन्तक की दृष्टि व्यापक है। उसकी वक्रोक्ति रसभावादि को भो समेटे हुए है अन्यथा दोनों की ही दृष्टि बाह्य सौन्दर्यपरक है।

अलंकार–सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त में बहुत अन्तर है –
अलंकार–सिद्धान्त में व्यक्ति तत्त्व की सर्वथा अस्वीकृति है, केवल शब्दार्थ के चमत्कार का ही काव्यत्व है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में शब्दार्थ के चमत्कार के साथ कवि व्यापार की भो स्वीकृति है।
अलंकार–सिद्धान्त में अलंकार्य और अलंकार का भद नहीं है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में इन दोनों–अलंकार्य और अलंकार की स्पष्ट भिन्न सत्ता है। अलंकार–सिद्धान्त में रस को एक अलंकार माना गया है परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त में उसकी अलंकार्य रूप में स्वीकृति है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस की अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण स्थिति है।
अलंकार सिद्धान्त में स्वभाव–वर्णन की अवहेलना है। भामह आदि ने उसे वार्त्ता कहकर अकाव्य माना है। वक्रोक्ति में स्वभाव–सौन्दर्य की स्वीकृति है, अलंकारों का महत्त्व ही इस स्वभाव–सौन्दर्य का प्रकाशन है। अलंकार सिद्धान्त नितान्त बहिरंग सिद्धान्त है। उसकी दृष्टि केवल शब्दार्थ तक है, वक्रोक्ति सिद्धान्त के वक्रताजन्य चमत्कार के अन्तर्गत रस–भावादि की स्वीकृति है। इस प्रकार इसका क्षेत्र व्यापक है और इसमें अन्तस्तत्व का चित्रण है, इस रूप में यह अन्तरंग पक्ष के निकट है।
यद्यपि ये दोनों काव्य सिद्धान्त–अलंकार और वक्रोक्ति–काव्य की बाह्य सज्जा को ही चमत्कार का नाम देते हैं और इसका आधार अलंकार ;सामान्य अथवा विशिष्टद्ध मानते हैं तथापि कतिपय भिन्नताएं दोनों को पृथक् करती है।

13.6.2 वक्रोक्ति और रीति–

दोनों सिद्धान्त शब्दार्थ को काव्य की देह मानने वाले होने से एक दूसरे से समानता रखते हैं। इनमे कुछ भिन्नता भो है–

रीति–सिद्धान्त में बीस गुणों में केवल एक क्रान्तिगुण में रस की स्थिति है, इस प्रकार यहां रस उपेक्षित–सा ही है। इसके विपरीत वक्रोक्ति की प्रबन्ध–वक्रता आदि में रस तथा ध्वनि को अधिक महत्त्व प्राप्त है।

रीति–सिद्धान्त में अलंकार्य और अलंकार की पृथक् स्थिति नहीं है परन्तु वक्रोक्ति सिद्धान्त में इसकी स्पष्ट पृथक् सत्ता की स्वीकृति है। रसवत् अलंकार को अलंकार न मानने में भो रस–भाव आदि को महत्त्व देने का भाव है।

वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। रीति की परिधि वक्रोक्ति के प्रथम चार भदों– वर्णवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता पदपरार्द्धवक्रता तथा वाक्य वक्रता तक है। वक्रोक्ति के अन्य दो भद– प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता–रीति की गति से बाहर है। इस प्रकार रीति वक्रोक्ति का एक अंग बनकर उसमें समाविष्ट हो सकती है।

13.6.3 वक्रोक्ति और ध्वनि –

ध्वनि–सिद्धान्त आत्मवादी सिद्धान्त है और वक्रोक्ति सिद्धान्त देहवादी सिद्धान्त है। ध्वनि में कवि–तथ्य को महत्त्व प्राप्त है और वक्रोक्ति में कवि व्यापार को। कुन्तक के समान आनन्दवर्धन ने भो ज्ञान की अपेक्षा कल्पना तथ्य को प्रमुखता अवश्य दी परन्तु उन्होंने कल्पना का योग स्पष्टतः अनुभ्ति से किया। आनन्दवर्धन की दृष्टि में कवि–कल्पना प्रमाता की कल्पना को उद्बुध कर काव्यत्व प्राप्त करतो है परन्तु कुन्तक की दृष्टि में कवि कल्पना काव्य में सन्निविष्ट हो जाती है अर्थात् ध्वनिकार के अनुसार कल्पना व्यक्तिनिष्ठ है और कुन्तक के अनुसार वस्तुनिष्ठ। ध्वनि–सिद्धान्त में शब्द–शक्तियों को साधन मात्र माना गया है और वक्रोक्ति सिद्धान्त में इसी कथन प्रणाली को ही सर्वस्व मान लिया गया है।

13.6.4 वक्रोक्ति और रस –

ध्वनि–सिद्धान्त के समान रस–सिद्धान्त भो आत्मवादी सिद्धान्त है और ध्वनिकार को आत्मरूप में इसी रसध्वनि की स्थिति स्वीकार है। वक्रोक्ति सिद्धान्त शरीरवादी है। वक्रोक्ति में रस की अन्य काव्यतत्त्वों–अलंकार, रीति तथा गुण आदि से विशिष्ट स्थिति है। कुन्तक काव्य का निकष सहृदय–आह्लादकत्व मानते हैं। काव्य प्रयोजन में अन्तश्चमत्कार की चर्चा करते हैं तथा रसवत्–अलंकार को अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं परन्तु इस रस को काव्य का अङ्गीतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का प्रमुख पोषक अंग मानते हैं और इस रूप में उसकी अनिवार्य स्थिति वाछनीय मानते हैं।

डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि ''रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है, वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसलिए वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य सम्पत्ति होते हुए भो जीवित नहीं है। संक्षेप में रस के साथ वक्रोक्ति का यही सम्बन्ध है जो ध्वनि रस–सम्बन्ध से अधिक भिन्न नहीं।''

ध्वनिवादियों ने रस ध्वनि की सर्वश्रेष्ठता का बारम्बार उद्घोष किया है और कवियों को रस–परतन्त्र बन जाने का निर्देश दिया है। वक्रोक्ति में यह स्थिति कहां है? ध्वनिकार ने रस को काव्य का सर्वस्व माना है परन्तु वक्रोक्तिकार ने उसे शरीर–रूप ही माना है।

वक्रोक्ति अलंकार का ही एक विशिष्ट और व्यापक रूप है। वक्रोक्ति सिद्धान्त में अलंकार की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न है अतः उसके साथ रस का वही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता जो ध्वनि के साथ रस का है अन्यथा ध्वनि–सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने पर और उसकी महत्ता से परिचित होने पर भो कुन्तक को एक नए सिद्धान्त की स्थापना के प्रयत्न की क्या आवश्यकता थी? अतः वक्रोक्ति के साथ रस का ध्वनि के साथ का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

13.6.5 वक्रोक्ति ओर औचित्य–

औचित्य की महत्ता असन्दिग्ध है। इसी से जीवन तथा काव्य में व्यवस्था, सामांजस्य तथा सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कुन्तक ने भो औचित्य को उचित महत्त्व दिया है। उनके अनुसार– तत्र पदस्य तावदौचित्यं वक्रताया परं रहस्यम्।'' क्योंकि औचित्य ही वक्रता का

जीवन है– **''उचिताभि धानजीवितत्वात् ।''** अतः कुन्तक की इस औचित्य के प्रति विशेष सतर्क रहने की चेतावनी है। उसके अनुसार– **''वाक्यस्याप्येक देशोऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ।''** अर्थात् वाक्यांश में भो अनौचित्य आ जाने से सहृदय मनःप्रसादन में क्षति पहुंचती है।

13.6.6 स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति

स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने अपने काव्यालंकार में किया है– ''अर्थ का यथावत् कथन स्वभाव'' कहलाता है। यह एक अलंकार भो माना गया है। यद्यपि भामह ने वक्रोक्ति को विशेष महत्त्व दिया है फिर भो स्वभावोक्ति को वे स्वीकार करते हैं। **वक्र का अर्थ स्वभाव से भिन्न न मानकर साधारण से भिन्न मानते हैं।**

दण्डी ने समग्र साहित्य को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो भागों में विभक्त किया और स्वभावोक्ति को अलंकार माना।

रुद्रट ने स्वभावोक्ति को अर्थालङ्कार का भद माना और जाति कहकर वस्तु के स्वरूप कथन को स्वभावोक्ति कहा।

भोज ने समस्त साहित्य को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति में विभाजित कर गुण प्रधान साहित्य को स्वभावोक्ति माना।

कुन्तक स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करत हैं–

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते? (वक्रोक्तिजीवितम् कारिका, 10/1)

कुन्तक प्रश्न करते हैं कि पूर्वोक्त जिन दण्डी आदि आलंकारिकों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकार्य क्या रह जाएगा? स्वभाव अलंकार्य है अलंकार नहीं। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालों के लिए 'सुकुमारबुद्धि' तथा 'विवेकक्लेशद्वेषी' पदों का प्रयोग कर अपना विरोध दर्ज किया है–

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु यद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।। (वक्रोक्तिजीवितम्, कारिका 10/12)

कुन्तक के अनुसार स्वभाव युक्त वस्तु ही कथन योग्य होती है अतः स्वभावोक्ति अलंकार्य ही है अलंकार नहीं। स्वभावोक्ति काव्य शरीर है और वक्रोक्ति अलंकार। कुन्तक का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि स्वपरिस्पन्द सुन्दर अर्थात् स्वभाव से सुन्दरता यदि अलंकार है तो अलंकार्य क्या है?

13.7 पारिभाषिक शब्दावली

वैदग्ध्य	–	विदग्धभाव यानि कविकम कौशल
भणिति	–	भासित होना
भङ्गी	–	विच्छित्ति, भिन्न प्रकार से
वक्रोक्ति	–	चमत्कारयुक्त कथन
प्रस्फुटित	–	प्रकट
आह्लाद	–	आनन्द

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वक्रता के छः प्रकारों को विस्तृत रूप में समझाइये।
2. वक्रोक्ति सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों से सम्बन्ध समझाइये।
3. वक्रोक्ति को सर्वालंकार मानने वाले आचार्यों के मत को प्रस्तुत कीजिये।
4. वक्रोक्ति का स्वरूप समझाते हुए कवि प्रस्थान के तीन मार्ग बताइये।

बोध प्रश्न 1 (रिक्त स्थानों की पूर्ति करो)

1. दण्डी ने वक्रोक्ति को .... माना।
2. रूद्रट ने वक्रोक्ति को .... माना।

3. भोजराज ने वक्रोक्ति को .... माना।
4. मम्मट ने वक्रोक्ति को .... माना।

बोध प्रश्न 2 (संक्षेप में उत्तर दीजिये)

1. वक्रता के तीन मार्ग कौनसे हैं?
2. पदपूर्वार्द्धवक्रता के भेदों का नामोल्लेख कीजिये।
3. पदपरार्द्धवक्रता के भेदों का नामोल्लेख कीजिये।
4. वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र मानने वाले चार आचार्यों के नाम लिखिये।

बोध प्रश्न 3 (कोष्ठक में से छांटकर ग्रन्थकार के समक्ष ग्रन्थ का नाम लिखिये)

(लोचन टीका, वक्रोक्तिजीवितम्, काव्यप्रकाश, काव्यादर्श)

1. कुन्तक
2. मम्मट
3. दण्डी
4. अभिनवगुप्त

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 13.2.4 से स्वयं जाँच करें।
2. इकाई 13.6 से स्वयं जाँच करें।
3. इकाई 13.3 से स्वयं जाँच करें।
4. इकाई 13.2 से स्वयं जाँच करें।

बोध प्रश्न 1 के उत्तर

1. सर्वालंकाररूप
2. एक अलंकारमात्र
3. सर्वालंकाररूप
4. एक अलंकारमात्र

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

1. सुकुमार, विचित्र, मध्यम।
2. इकाई 13.2.4.2 देखें।
3. इकाई 13.2.4.3 देखें
4. वामन, रूद्रट, मम्मट, विश्वनाथ।

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

1.	कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्
2.	मम्मट	काव्यप्रकाश
3.	दण्डी	काव्यादर्श
4.	अभिनवगुप्त	लोचन–टीका

13.9 सारांश

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का मूलतः तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में अतिशयोक्ति के अर्थ में वक्रोक्ति को सर्वालङ्कार सामान्य के रूप में भामह से लेकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन तदनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने माना। आचार्य कुन्तक भी इस विचार से अछूते नहीं रहे। और तत्पश्चात् यही वक्रोक्ति एक सिद्धान्त का रूप ले लेती है जिसका श्रेय आचार्य कुन्तक को जाता है। कुन्तक ने कवि प्रस्थान के तीन मार्गों का निरूपण कर वक्रता के छः प्रकार बताए। काव्यशास्त्र को कुन्तक की देन की विशेषता यह रही कि उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना। कन्तक के अनुसार रस काव्य की अमूल्य सम्पति होते हुए भी इस के बिना काव्य जीवित रह सकता है किन्तु वक्रोक्ति के बिना नहीं। कुन्तक का आह्लाद उक्ति का चमत्कार वैचित्र्य है रस का पर्याय नहीं। वक्रोक्ति का परिमाण वर्ण विन्यास से लेकर समग्र कवि व्यापार तक बढाया। रीति सिद्धान्त से समानता होन पर भी वक्रोक्ति सिद्धान्त व्यापक हुआ क्योंकि उसमें पद रचना सहित समस्त रूप विधान को भी काव्य का जीवन मान लिया। तीसरी अवस्था में वक्रोक्ति

एक सीमित अर्थ में अर्थात् अलंकार के एक भेद (भाग) के रूप में अभिव्यक्त हुई। वामन की दृष्टि में यह सादृश्याश्रित लक्षणापरक एक अर्थालंकार है तो आचार्य रूद्रट और मम्मट, विश्वनाथ आदि की दृष्टि में काकु और श्लेष पर आधारित शब्दालंकार मात्र वक्रोक्ति अलंकार है।

13.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कुन्तकः वक्रोक्तिजीवितम्, (सम्पा.) डॉ. दशरथ द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1988.
2. भारतीय काव्यशास्त्र, रामचन्द्रवर्मा, अनिता प्रकाशन, चरखेवालान, दिल्ली 1986.
3. काव्यप्रकाश, (मम्मटाचार्य) आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2006.

इकाई 14

ध्वनि सम्प्रदाय –प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

आप एम.ए. (पूर्वार्द्ध) संस्कृत चतुर्थप्रश्न-पत्र (भारतीय काव्यशास्त्र एवं व्याकरण) की चौदहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ एवं चिन्तकों को आधार बनाकर ध्वनिमत का मूल स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- ध्वनि शब्द का तात्पर्य समझ सकेंगे।
- ध्वनि शब्द का उद्‌भव कहाँ से हुआ और अन्त में ध्वनि के सम्बन्ध में क्या मत स्थापित हुआ? इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रस सिद्धान्त, रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति आदि ध्वनि से किस तरह सम्बन्धित है, ये भी जान सकेंगे।
- ध्वनि के भेदों के बारे में जान सकेंगे।
- आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

वाच्य अर्थ और वाचक शब्द ध्वनि कहे जाते है। काव्य के आत्मभूत तत्त्व 'ध्वनि' के नामकरण के विषय में साहित्य-मर्मज्ञ व्याकरणशास्त्र के ऋणी हैं। व्याकरणशास्त्र में श्रोत्रग्राह्य शब्द के लिये 'ध्वनि' पद का प्रयोग होता है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक से काव्य जगत् में एक नवीन चेतना और जागृति का संचार किया और ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। काव्य की आत्मारूप जो ध्वनि तत्त्व सहृदय-श्लाघनीय है उसके दो भेद किये जाते हैं। पहला वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। ऐतिहासिक प्रमाण देते हुए, प्रतीयमान अर्थरस को ही काव्य की आत्मरूप ध्वनि कहा है।

इस इकाई में हम ध्वनि तत्त्व, ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन एवं ध्वनि के स्वरूप के बारे में चर्चा करेंगे।

14.2 ध्वनि का अर्थ, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

14.2.1 ध्वनि का अर्थ

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि ध्वनि के नामकरण के विषय में साहित्यशास्त्रज्ञ व्याकरणशास्त्र के ऋणी हैं। व्याकरणशास्त्र में ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है। उच्चरित शब्द को ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार जहाँ ध्वनि मूलतः अभिव्यंजक शब्द के लिये ही सीमित थी अब वो अभिव्यंजक अर्थ के लिये भी प्रयुक्त की जाने लगी। इसका तात्पर्य ये हुआ कि जो ध्वनि शब्द श्रवणमात्र से ही सम्बन्धित हुआ करता था अब वो मनन, चिन्तन आदि क्रियाओं का भी व्यञ्जक माना जाता है।

ध्वन्यालोक में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

(1) व्यङ्ग्य शब्द

(2) वाच्य शब्द

(3) वाचक अर्थ

(4) व्यञ्जना व्यापार

(5) समुदायरूप काव्य

14.2.2 ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति

(1) ध्वनतीति ध्वनिः

(2) ध्वन्ति/ध्वनयति इति वाच्यार्थः

(3) ध्वन्यत इति ध्वनिः

(4) ध्वननं ध्वनिः।

(5) ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः (व्यञ्जनाव्यापारः)

(6) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः (व्यङ्ग्यप्रधानकाव्यम्)

अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति।

(1) वाच्य अर्थ और वाचक शब्द 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होते हैं। ध्वनतीति ध्वनिः।

(2) द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार मात्र व्यङ्ग्यरूप अर्थ ध्वनि है। ध्वन्यत इति ध्वनिः।

(3) तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है ध्वननं ध्वनिः।

14.2.3 ध्वनि शब्द की परिभाषा

ध्वनि की सत्ता बहुत प्राचीन है। ध्वनि के विरुद्ध सम्भाव्य आपत्तियों का निराकरण करते हुए वाच्य अर्थ से श्रेष्ठ बताते हुए प्रतीयमान अर्थ की व्याख्या की गई। कवियों की प्रतिभा को प्रकट करने का अपूर्व साधन है ध्वनि। प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गई कविता ध्वनि से सम्पन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है। काव्य में, बात को किस तरह से प्रस्तुत किया जा रहा है इस बात का विशेष महत्त्व है। जैसे कि कोई वर्णनीय वस्तु है। उसका एक कवि ने सामान्य कथन करके बात समाप्त कर दी और एक अन्य कवि ने शब्द सौन्दर्य, अलंकारादि से विभूषित करके यदि उसे प्रस्तुत किया है, उसकी शैली में वैभिन्य एवं नवीनता है तो वह वस्तु हमारे लिये नवीन तथा चमत्कार युक्त प्रतीत होती है।

14.2.4 रीति से ध्वनि की निष्पत्ति

रीति से स्वतन्त्र अस्तित्त्व को दबाकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना कर उसे परतन्त्र बना दिया और ध्वनि को काव्य का जीवितभूतत्त्व स्वीकार किया। आचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि मानव-शरीर में जो स्थान आत्मा का होता है, वही काव्य में ध्वनि का होता है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ के सद्भाव का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य के शब्द अपने वाच्यार्थ से परे किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करते हैं। और यह अन्य अर्थ जो कि व्यंग्यार्थ है, प्रधान तथा काव्य की आत्मा होता है। और इसी सादृश्य के कारण काव्य के आत्मभूत तत्त्व का नामकरण 'ध्वनि' किया गया है।

14.3 ध्वनि सिद्धान्त का प्राचीनत्व एवं आनन्दवर्धन का परिचय

14.3.1 ध्वनि सिद्धान्त की प्राचीनता

ध्वनि सिद्धान्त एक बड़ा ही प्राचीन सिद्धान्त है। इसके प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन माने जाते हैं। आपका जन्म नवीं शताब्दी में हुआ। 875 ई. के आस-पास आपन सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना से काव्य जगत में एक क्रान्ति आ गई। आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' मत प्रतिपादित किया। हालांकि यह मत आनन्दवर्धन से पूर्व के काव्यवेत्ताओं को विदित था किन्तु यह विचाराधीन था। आनन्दवर्धन ने उसे मूर्त रूप प्रदान किया।

14.3.2 आचार्य आनन्दवर्धन का सामान्य परिचय

काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्धन अद्वितीय स्थान रखते हैं। अपने विषय क्षेत्र में इनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। पूर्व में ध्वनि मत को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ पनप रही थीं। आपने उनका निराकरण कर स्वकीय अमूल्य सिद्धान्त को ध्वनि सिद्धान्त के नाम से अपनी पुस्तक 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित किया एवं काव्यशास्त्र के चिन्तन की एक नई दिशा दी।

14.3.3 कालनिर्धारण

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में आचार्य आनन्दवर्धन के देश-काल के सम्बन्ध में सङ्केत प्राप्त होते हैं।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

प्रस्तुत उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन कश्मीरनरेश अवन्ति वर्मा के सभा-पण्डितों में से थे तथा कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। 'राजानक' उपाधि से आपको विभूषित किया गया था।

उद्भट द्वारा ये निर्देशित है कि आनन्दवर्धन का समय आठवीं शताब्दी से पर का होना चाहिये। 'त्रिविद्वभिः भट्टोद्भटादिभिः'

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है–

'प्रतिभात्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः।' सूक्तिमुक्तावली में जल्हण ने भी एक श्लोक उद्धृत किया है, आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता बताया है।

ध्वनिनातिगम्भीरेण काव्यतत्त्व निवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन का समय राजशेखर से पूर्व का है ये तो स्पष्ट है। अब देखा जाए कि राजेशखर का समय 900 ई. से 925 ई. के आसपास है, अतः आनन्दवर्धन का समय इससे तो पूर्व ही माना जाएगा।

काव्यप्रकाश की टीका 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक वृत्ति में कथित तथा 'चान्येन कृत एवात्र श्लोकः' वाक्य के अन्येन पद की व्याख्या करते हुए लिखा है–

'तथा चान्येनेति ग्रन्थ कृत समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना'

इस पङ्क्ति के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोरथ कवि आनन्दवर्धन के समकालीन थे। इन्हो कवि मनोरथ का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में राजा जयापीड़ के राजकवि के रूप में किया है।

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमान्स्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामानाद्याश्च मन्त्रिणः॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय 800 ईसा के लगभग मानना पड़ेगा। यह समय 800 ईसा तभी माना जा सकेगा जब ये मनोरथ कवि वही है जिनका जिक्र अभिनवगुप्त ने किया है और जयापीड़ भी वही जयापीड़ है। किन्तु यह मत भी विवाद के घेरे में है क्योंकि उक्त श्लोक से मनोरथ कवि वामन के समकालीन सिद्ध होते हैं। वामन जयापीड़ के मन्त्री रहे हैं अतः मनोरथ भी समकालीन हुए या तो अभिनवगुप्त ने कोई त्रुटि की है या फिर ये मनोरथ कवि कोई अन्य रहे होंगे जिनका कथन अभिनवगुप्त ने किया है।

एक स्थान पर कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में अवन्ति वर्मा के साम्राज्य में प्रसिद्ध होने वाले कवि के रूप में उनका उल्लेख किया है–

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

बूलर और जैकोबी ने बहुत सोच-विचार कर विभिन्न तर्कों पर चिन्तन करते हुए आनन्दवर्धन के समकक्ष जो राजा हुए और उनका समय निर्विवाद है उनका प्रमाण देते हुए आनन्दवर्धन के समय को बताया। यथा– अवन्तिवर्मा का राज्यकाल 855–883 ई. था। कुछ विद्वानों ने अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा के साथ भी आनन्दवर्धन की समसामयिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और शङ्कर वर्मा का समय 883 से 902 का माना जाता है। चूंकि आनन्दवर्धन के जीवनकाल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है, वह अवन्तिवर्मा के राज्यकाल के आधार पर निश्चित होता है। कवि के रूप में प्रसिद्धि आनन्दवर्धन ने अवन्तिवर्मा के काल में प्राप्त की थी। और अनुमानतः जब उन्होंने ध्वन्यालोक का निर्माण किया होगा तब वे निश्चित रूप से वयः प्राप्त प्रौढ़ तो हो ही चुके होंगे।

यदि कोई यह आक्षेप उठाए कि आचार्य शङ्कर ने तो अल्पवयस् में ही समस्त ग्रन्थों की रचना कर डाली थी तो उसका उत्तर ये है कि आनन्दवर्धन का प्रथम ग्रन्थ तो ध्वन्यालोक नहीं है। उन्होंने अपने समस्त काव्य-निर्माणों का उल्लेख ध्वन्यालोक में किया है। अतः वे शङ्करवर्मा के काल में रहे होंगे।

न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्तभट्ट ने अपनी पुस्तक में आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है।

एतेन शब्द सामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्॥
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः।

अन्यत्र-

मानान्तरपरिच्छेधवर-तुरुपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥

इन विभिन्न मतों की चर्चा से हम विचार कर सकते हैं कि-

- आनन्दवर्धन शंकरवर्मा के समकालीन थे किन्तु जयन्त के पहले थे। अतः इनका समय 900 ई. माना जा सकता है।
- इसमें उद्‌भट का उल्लेख है जिनका समय 800 ई. माना जाता है।
- राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है जो कि (900-925 ई.) के काल के थे।

अतः अनुमानतः उनके समस्त निर्माणों का समय 860-890 ई. के मध्य होना चाहिये।

14.3.4 वंश परम्परा

आचार्य आनन्दवर्धन के वंश के सन्दर्भ में भी बहुत्र प्रमाण प्राप्य नहीं है किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिकं वहीं माना जाता है जहाँ लेखक या ग्रन्थ रचयिता स्वयं अपना समय वंश इत्यादि का कथन कर दे। देवीशतक में आप स्वयं लिखते हैं-

देव्या स्वप्नोङ्गमादिष्टदेवी शतकसंशया।
देशिताभुपमामाधादतो नोणसुतो नतिम्॥

हेमचन्द्र ने अपनी पुस्तक काव्यानुशासन विवेक में भी देवीशतक का उद्धरण देते हुए आपको 'नोणसुत' कहा है।

स्वयं आनन्दवर्धन ने भी ध्वन्यालोक में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि उनका जन्म कश्मीर के ब्राह्मण परिवार में श्री नोणोपाध्याय के घर पर हुआ था।

'एतात्पितुश्च नोण' इति नामासीदित्येत्प्रणीतत देवीशतकतो प्रतीयते।'

देवीशतक के एक श्लोक में यह भी स्पष्ट है कि आचार्य ने देवीशतक की रचना 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद में की थी-

येनानन्द कथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी।
तेन सुदुष्करमेतत् स्तोत्रं देव्याः कृतं भक्त्या॥

14.4 ध्वनि विरोधी आचार्य और सम्प्रदाय

स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से किसी गूढ तत्त्व को प्राप्त करता ही है। यह तो शाश्वत बात है कि जब भी इतिहास में स्थूल वस्तु, सिद्धान्त या कार्य देखा जाता है तो उसके सूक्ष्म से ज्ञान करना ही हमारा उद्देश्य हो तो हम सम्पूर्ण स्थूल को देख पाते हैं। यथा साहित्य में भामह,

दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूलरूप मुख्य रहा किन्तु मम्मट, आनन्दवर्धन, पण्डितराज जगन्नाथादि विभिन्न आचार्यों ने एक-एक सिद्धान्त को लेकर क्रमश: उनकी जो व्यञ्जना एवं स्थापना की है उससे विभिन्न मतों का स्पष्ट स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनि:' यहाँ जो काव्य की आत्मरूप ध्वनि है उसका अर्थ है- चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ। यद्यपि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ध्वनि के व्यङ्ग्य अर्थ का आभाष पर्यायोक्त आदि अनेक अलङ्कारों मे अनुभूत किया था किन्तु वे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के चारुत्व में पूर्ण विश्वास न करते थे। ऐसे समय में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता थी। एक ऐसे सिद्धान्त की जो काव्य की आत्मस्वरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का स्वरूप सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर सके और यह कार्य सम्पन्न किया आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने।

सिद्धान्त स्थापना के पूर्व भी ध्वनि को व्यङ्ग्य अर्थ की स्वीकृति के रूप में समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, आक्षेपादि अलङ्कारों के रूप में तो स्वीकृति प्राप्त थी। इस बात को पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगङ्गाधर' के पर्यायोक्त प्रकरण में स्वीकार किया है-

'ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भट्प्रभृततिभि: स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा: प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यत: समासोक्ति व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणे-कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरुपिता:। अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्च: पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्त:। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दै: परं व्यवहारो न कृत:। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति। प्राधान्यादलङ्कार्यो हि ध्वनिरलङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविशतामिति तु विचारान्तरम्।'

ये शब्द तो पण्डितराज जगन्नाथ के हैं किन्तु इसी मत का समर्थन करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वयं अपने शब्दों में लिखा है-

यद्यपि ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकार: प्रकाशित:, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनि मार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित:।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि को 'घंटे के अनुरणन' के रूप में अनुभूत किया और इसी आधार पर उस अनुरणन अर्थ की संज्ञा 'ध्वनि' रख दी। उनसे पूर्व वैयाकरण लोग श्रूयमाण अर्थ को ध्वनि कहते थे। किन्तु अब 'ध्वनि' नामकरण को विद्वान् वैयाकरणों ने भी अनुकूल स्वीकृति दे दी। अत: अब 'ध्वनि सम्प्रदाय' नामक भिन्न सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। इस सम्प्रदाय को जानने से पूर्व हमें आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों का मत भी जान लेना चाहिये जिससे हम जान सकेंगे कि ध्वनि पहल किस स्वरूप में जानी जाती थी। अत: अब हम आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों के ध्वनि चिन्तन की चर्चा करेंगे।

14.4.1 ध्वनि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने वाले आचार्य

भामह ने जो 'गुणसामान्यप्रतीति' का निर्देश किया है, यह सर्वथा गम्यमान औपम्य के समान है। अलंकारों में अन्य गम्यमान अर्थों की स्वीकृति मिलती है। यथा- समासोक्ति में बताया जाता है- 'यत्रोक्ते गम्यमानोऽर्थ:'। इसी तरह पर्यायोक्ति अलङ्कार में भी कहा जाता है- 'यदन्येन प्रकरणेनाभिधीयते।' इस प्रकार इनके और भी अलङ्कारों में अन्य गम्यमान अर्थ की स्वीकृति मिलती है। भामह के कहने का तात्पर्य स्पष्टतया प्रतीत होता है कि सामान्य अर्थ तो एक सामान्य वाक्य द्वारा जाना एवं समझा जा सकता है किन्तु विशेष अर्थ जो कि गम्यमान नाम से जाना जाता है वो अलङ्कारों द्वारा ही व्यञ्जित हाता है। (1) अत: ध्वनि तत्त्व को भामह ने गुणसाम्य प्रतीतिरूप कहा है। (2)

ध्वनि तत्त्व को उन्होनें गम्यमान अर्थ का बोधक कहा है। (3) प्रतीयमान अर्थ अलंकारों द्वारा जाना जा सकता है।

भामह ने इन तीन दृष्टियों से आचार्य आनन्दवर्धन के मत को अपनी विशिष्ट दृष्टि से भिन्न रूप में (अलङ्कारों में अन्तर्भूत) प्रस्तुत किया।

दण्डी की काव्यादर्श में भी ध्वनि सिद्धान्त के सङ्केत प्राप्त होते हैं- उदात्त अलंकार के प्रसङ्ग मे दण्डी ने लिखा है-

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥

उद्भट् ने 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार में ध्वनि सिद्धान्त के सङ्केत दिये हैं।

रुद्रट के परिकर अलङ्कार में ध्वनि की व्यञ्जना प्राप्त है। रुद्रट ने समासोक्ति और अन्योक्ति अलङ्कारों में भी ध्वनि तत्त्व को माना है।

14.4.2 विरोधी आचार्य

भामह, दण्डी, उद्भट् रुद्रट आदि तो ध्वन्यालोक के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को अलङ्कारों में देखा है तथा उसे अन्य रूप में स्वीकार किया है। किन्तु प्रतीहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यों ने ध्वन्यालोक के ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया। अब हम संक्षेप में उन ध्वनि सम्प्रदाय विरोधी आचार्यों के बारे में पढ़ेंगे-

प्रतीहारेन्दुराज- आनन्दवर्धन ने जब प्रतीयमान अर्थ पर आधारित विचार को ध्वनि सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया तब विशेषरूप से 'अलङ्कारान्तर्भूत' करने का पयत्न किया। प्रतीहारेन्दुराज ने इस विचार को (प्रयत्न को) उद्भट के 'काव्यालङ्कार संग्रह' पर लिखी अपनी व्याख्या में निर्दिष्ट किया-

'स (प्रतीयमानः) कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्।

यथा- पर्यायोक्त अलङ्कार में पदध्वनि को अन्तर्भूत करते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है-

'न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयं राजामाज्ञा, सूत्रकारवनं वा।'

यहाँ वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलङ्कार के अन्तर्गत बताते हुए 'रामोस्मि सर्वं सहे' को पदध्वनि मानकर पद में पर्यायोक्त का निर्देश दिया है।

मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत माना और उसके तीन भेदों वस्तु, अलङ्कार और रस के ध्वन्यालोक में दिये गए उदाहरणों को अलङ्कारों के उदाहरण सिद्ध किया। यथा-

ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्त्वत्र तथाविधार्थाभिव्यक्ति हेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्।'

मुकुलभट्ट ने अपनी पुस्तक 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है-

'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्।'

यहाँ स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वीकार करते थे अतः आनन्दवर्धनाचार्य की नूतन ध्वनिविषयक व्यञ्जना उन्हें उचित न लगी।

14.4.3 प्रबल विरोधी आचार्य

इस प्रकार प्रतीहारेन्दुराज एवं मुकुलभट्ट द्वारा ध्वनि का खण्डन प्रसङ्गतः हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आलङ्कारिक हुए जिन्होंने अपने ग्रन्थों का निर्माण ही ध्वनि के खण्डनमात्र के उद्देश्य से किया। इनमें तीन प्रमुख हैं– (1) भट्टनायक (2) कुन्तक (3) महिमभट्ट।

(1) **भट्टनायक**– 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ में भट्टनायक ने ध्वनि सिद्धान्त की आलोचना की है। वस्तुतः यह ग्रन्थ अप्राप्य है किन्तु लोचन टीका में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

'दर्पणों हृदयदर्पणाख्यो ध्वनि ध्वंस ग्रन्थोऽपि' व्यक्ति विवेकव्याख्यान के इस कथन के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि 'हृदयदर्पण' ध्वनिध्वंस के उद्देश्य से ही लिखा गया है। भट्टनायक व्यञ्जनाशब्दशक्ति के समर्थक नहीं है। वे अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकत्व नामक दो नये व्यापारों को कल्पना करते हैं। आप रससिद्धान्त के युक्तिवादी व्याख्याता है।

(2) **कुन्तक**– कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' का निर्माण ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के विरोध में किया है। किन्तु इनका मूल उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना नहीं अपितु वक्रोक्ति का मण्डन करना है। आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को इन्होंने वक्रोक्ति के प्रकारान्तर के रूप में ही माना है। ये इनका स्वभाव आनन्दवर्धन के प्रति सौहार्दपूर्ण था। आपने रस की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते हुए भी कुन्तक ने उसे स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का भेदमात्र माना है। कुन्तक लोचनकार के समकालिक थे।

(3) **महिमभट्ट**– महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' में लिखा है कि मेरी बुद्धि हृदयदर्पण को देखे बिना ही सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है–

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यता-दृष्टदर्पणा मम धीः।

स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

महिमभट्ट के ग्रन्थ का प्रणयन ध्वनि सिद्धान्त के खण्डनार्थ हुआ है इस बात की पुष्टि स्वयं महिमभट्ट के ग्रन्थ के इस पद्य से हो जाती है–

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

अर्थात् महिमभट्ट परा वाणी को प्रणाम करके अनुमान में सभी ध्वनियों का अन्तर्भाव करने के लिये 'व्यक्ति विवेक' नाम के ग्रन्थ निर्माण कर रहे हैं।

महिमभट्ट अभिधावादी है, व्यङ्ग्य को वे अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं। लिङ्गलिङ्गीभाव को ये व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के स्थान पर स्वीकार करते हैं। इन्होंने ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। किन्तु साहित्य जगत् में इनका स्थान बहुत अधिक ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाया और ध्वनि सिद्धान्त अपनी विजयपताका फहराता हुआ साहित्यगगन में सुशोभित हो रहा है।

इनक अतिरिक्त जयद्रथरचित 'अलङ्कार सर्वस्य' के व्याख्यान में एकत्र दो कारिकाओं का उल्लेख प्राप्त है जिनके लेखक का नाम अनिर्दिष्ट है, उसमें ध्वनि के सम्बन्ध में 12 विप्रतिपत्तियाँ निर्दिष्ट हैं–

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासाक्त्याद्यलङ्कृतिः॥

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय:॥

विस्तारभय से इन विप्रतिपत्तियों की चर्चा यहाँ हम नहीं करेंगे। अभिधेयमात्र यहाँ देखेंगे। (1) तात्पर्य, (2) अभिधा, (3) (4) लक्षणा के दो भेद, (5) (6) अनुमान के दो भेद, (7) अर्थापत्ति, (8) तन्त्र, (9) समासोक्त्यादि अलङ्कार, (10) रसकार्यता, (11) भोग, (12) व्यापारान्तरबाधनम्।

इन समस्त आचार्यों ने जो ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है उसके स्वरूप को बदला है वो सारी क्रियाऐं –प्रतिक्रियाऐं होने के पश्चात् भी आनन्दवर्धन का सिद्धान्त अपनी जगह अक्षुण्ण खड़ा है। ध्वनि विरोधी पक्षों में स्वयं आनन्दवर्धन ने तीन पक्षों का निर्देश दिया है–(1) अभाववादी, (2) भाक्तवादी, (3) अनिर्वचनीयतावादी। इन सभी मतों का खण्डन एवं स्वमत का मण्डन हम अग्रिम अध्याय में पढ़ेंगे।

उपरोक्त सम्पूर्ण प्रसङ्ग को पढ़कर हमने आचार्य आनन्दवर्धन के विरोधी आचार्यों के मतों का संक्षेप में अध्ययन किया। अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से हम इस पूरे विरोधी सम्प्रदाय को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

आनन्दवर्धन के विरोधी आचार्य

(1)	(2)	(3)
(अ) भामह	(अ) प्रतीहारेन्दुराज	(अ) भट्टनायक
(ब) दण्डी	(ब) मुकुलभट्ट	(ब) कुन्तक
	(स) उद्भट्	(स) महिमभट्ट
	(द) रुद्रट	

यहाँ प्रथम विभाजन में वे आचार्य परिगणित है जिन्होंने आनन्दवर्धन के मत का खण्डन तो नहीं किया किन्तु उनके ध्वनि सिद्धान्त को अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया है।

द्वितीय विभाजन में वे आचार्य हैं जिन्होंने प्रसङ्गवश ध्वनि का खण्डन किया है।

तृतीय विभाजन में वे आचार्य है जिन्होंने प्रसङ्गवश नहीं अपितु ध्वनि के खण्डन के उद्देश्यमात्र से ही अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है।

14.5 ध्वनि सिद्धान्त का मूल तत्त्व

14.5.1 ध्वनि सिद्धान्त की मूलप्रेरणा

साहित्य जगत् का बहुमूल्यसिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त ऐसे ही कहीं से उठकर नहीं आ गया है। इसके मूल में वैयाकरणों की उक्ति विद्यमान है और वह सर्वमान्य है।

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

अर्थात् महान् व्याकरणशास्त्र की अनेकयत्नपूर्वक उपासना करनी चाहिये क्योंकि यह शास्त्र समस्त विद्याओं के प्रदीप के रूप में अवस्थित है।

व्याकरणाचार्यों के अनुसार श्रूयमाण वर्ण ही 'ध्वनि' कहलाते हैं। चूंकि ये वर्ण व्यञ्जक होते हैं अत: विद्वानों ने वाच्यवाचकसम्मिश्रित काव्य को भी 'ध्वनि' कहा। ध्वनिकार ने इसी मत की शास्त्रसम्मति

और विषय के सार्वजनीकरण हेतु से अपने ग्रन्थ की रचना को प्रवृत्त किया। जिस स्फोटवाद से ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ उसे प्रसङ्गवश यहाँ हम पढ़ेंगे।

स्फोटवाद- स्फोटवाद के प्रतिपादक स्फोटायनाचार्य ही थे। इसके प्रमाण भी हमें अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

'अवङ् स्फोटायनस्य'। अष्टाध्यायी 6.1.123।

'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः॥ पदमञ्जरी॥

पाणिनी के अतिरिक्त भी समस्त वैयाकरण यथा कात्यायन, पतञ्जलि आदि भी स्फोटवाद के समर्थक हैं। वैयाकरणाचार्यों के मतानुसार शब्द नित्य है, एक है तथा अखण्ड है। शब्द की अभिव्यक्ति का माध्यम वैयाकरणों ने ध्वनि से माना है तथा ध्वनि के दो वर्गीकरण किये हैं- (1) प्राकृत (2) वैकृत। वैयाकरणों के मत में वाक्य में सार्थकता होती है न कि वर्णों या पदों में। पतञ्जलि ने अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से (शब्द) स्फोट का लक्षण बताया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि अर्थ की प्रतीति वाक्य से होती है। श्रोत्र से ही शब्द की उपलब्धि होती है।

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।'

'नित्यांश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभि-वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।'

पतञ्जलि के अनुसार शब्द स्फोटरूप है। ध्वनि स्फोट का गुण है। जैसे घंटे की टंकार में एक अनुरणन होता है, वही ध्वनि है। स्फोट और ध्वनि में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव है।

स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति वैयाकरणों ने इस प्रकार दी है।

'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः'

जिससे अर्थ का स्फुरण होता है वह स्फोट कहलाता है। स्फोट और ध्वनि शब्द के दो भेद व्याकरणशास्त्र में माने जाते हैं।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

स्फोट एवं ध्वनि की चर्चा का दार्शनिक पद्धति से विवेचन करते हुए आचार्य जगन्नाथ पाठक ने विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

स्फोट ध्वनि रूप शब्द का उपादान कारण है क्योंकि उससे अर्थ का भान होता है और दूसरे ध्वनिरूप शब्द का अर्थों में प्रयोग किया जाता है अथवा वह शब्द-समुदाय (उपादान) जिसे ध्वनि कहते हैं स्फोट का निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होता है तत्पश्चात् दूसरे स्फोट रूप शब्द के अभिव्यक्त होने पर अर्थ की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह है कि श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित शब्द स्फोट या ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होता है और वह अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक।

जिस प्रकार कारण और कार्य को कुछ दार्शनिक भिन्न मानते हैं तो कुछ अभिन्न, इसी प्रकार का मतभेद स्फोट और ध्वनि के सन्दर्भ में भी प्राचीन दार्शनिकों में हुआ।

स्फोट की स्थिति बुद्धि में उस प्रकार की होती है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि की। उस स्थिति में वह अज्ञात रहता है। किन्तु जब कण्ठ, तालु आदि करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्वनि रूप से प्रतीत होने लगता है। व्यंजक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य घटादि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्वनि

द्वारा व्यंजित स्फोट शब्द भी अपने को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य माना जाता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी ध्वनि से किसी भी अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर भी स्फोट में कोई क्रम नहीं होता तथा भेद भी नहीं होता। उसमं क्रम और भेद की प्रतीति ध्वनि की अभिव्यक्ति के क्रम से होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में चंचलता नहीं होती, किन्तु तरल जल में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें भी चंचलता आरोपित करते हैं उसी प्रकार स्फोट में क्रम और भेद वास्तविक नहीं है, प्रत्युत आरोपित है।

मनुष्य की बुद्धि में वह ब्राह्माण्डव्यापी शब्द अपने क्रमरहित एवं निर्विभाग रूप में विद्यमान रहता है और जब उच्चारण की इच्छा होती है तब उसमें एक क्रियारूपा वृत्ति होती है, फिर वह उस वृत्ति के कारण वाक्य, पद आदि के रूप में आता है। स्वतः अखण्ड है, फिर भी वृत्ति के कारण भागों की तथा क्रम की उसमें सत्ता होती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पक्षी के अण्डे के भीतर केवल अरूप अविभक्त एक तरल पदार्थ होता है वही विशेष स्थिति में एक रूप में आने लगता है।

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद किए हैं–प्राकृत एवं वैकृत। प्राकृत अर्थात् मौलिक ध्वनि तथा वैकृत ध्वनि अर्थात् प्राकृत ध्वनि का अनुरणन रूप। प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है उसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है। स्फोट शब्द इस काल-भद से रहित है किन्तु इसे उसमें आरोपित करते हैं। प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप करके उसे व्यवहार का विषय बनाते हैं।

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण हैं और वैकृत ध्वनि में द्रुत, मध्य एवं विलम्बित वृत्तियाँ रहती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् वृत्तिभेद होने पर यह ध्वनि उत्पन्न होते हैं। और जैसा कि भगवान् भर्तृहरि का कहना है–

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

स्फोट का ग्रहण प्राकृत ध्वनि से होता है। प्राकृत को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जाता है। यद्यपि प्राकृत ध्वनि में नित्यता नहीं है, तथापि स्फोट की नित्यता उसमें भी मान ली जाती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् उत्पन्न होने वाली ध्वनि को मूल का विकार कहा जाता है और उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

संक्षेप में इस विस्तारगम्य विषय को प्रस्तुत में इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है। लोचनकार ने वैयाकरणों के ध्वनि को काव्य-सिद्धान्तीय ध्वनि-विचार में संगत करते हुए भगवान् भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत किए हैं।

काव्य में 'ध्वनि' शब्द से मुख्यतः व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द-अर्थ एवं व्यञ्जनाव्यापार इन सब का ग्रहण होता है। प्रथम तो व्यंग्य अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है वह घण्टादि के शब्द के स्थान पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण-दर्शन में उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, पयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले (शब्दज शब्द अर्थात् घण्टानुरणन रूप शब्द) ध्वनि कहे जाते हैं। (ये उत्पत्तिवादी आचार्य स्फोट को नित्य नहीं मानते, बल्कि इनके अनुसार स्फोट उत्पन्न होता है अतएव अनित्य है।) श्लोक इस प्रकार है–

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥ वाक्यपदीय, 1/103

जैसा कि वैयाकरणों का अभिमत है, नाद अर्थात् श्रूयमान वर्ण स्फोट के अभिव्यंजक होते हैं और स्फोट अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है। इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण या नाद, जिन्हें 'ध्वनि' कहते हैं, क्रमशः स्फोट को बुद्धि में प्रकाशित या अभिव्यक्त करते जाते हैं। भर्तृहरि कहते हैं–

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

वाक्यपदीय, 1/84

इस प्रकार व्यंग्य अर्थ के व्यंजक शब्द-अर्थ भी प्रस्तुत काव्य-सिद्धान्त में 'ध्वनि' शब्द से अभिहित हैं। फिर ऐसा होता है कि वर्णों के परिमित होने से अल्पतर यत्न से उच्चारित शब्द को जब बुद्धि नहीं ग्रहण कर पाती, उस स्थिति में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से अधिक द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों का भेदरूप व्यापार है उसे भी ध्वनि कहते हैं–

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ **वाक्यपदीय, 1/78**

कहा जा चुका है कि ये वृत्तियाँ वैकृत ध्वनि में होती हैं और उच्चारण-व्यापार से ये अतिरिक्त व्यापार हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत में ध्वनिकार ने प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापारों से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है।

और व्यंग्य अर्थ, व्यंजक शब्द और अर्थ, व्यंजना-व्यापार ये चार ध्वनि हैं तो इनके योग से समुदायरूप काव्य भी 'ध्वनि' पदवाच्य होता है।

इन समस्त पक्षों को स्वीकार करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने पक्ष की स्थापना की। किन्तु स्वमत की स्थापना करने के लिये उन्हें तीन वादों के अनुयायियों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करनी पड़ी। इस त्रिविध खण्डन का सङ्केत ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक से ही प्राप्त हो जाता है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात्पूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

यहाँ समाम्नात् पूर्व जिन लोगों ने ध्वनि को अन्यान्य स्वरूपों में प्रस्तुत किया है उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

14.5.2 तीन विरोधी मत

अभाववादी भक्तिवादी अनिर्वचनीयतावादी

इनमें से अभाववादियों के पुनः त्रिविध मतों का खण्डन प्राप्त होता है जिन्हें आचार्य बलदेव उपाध्याय ने समुदायविशेष के नाम से भी बताया है।

14.5.3 त्रिविध अभाववादी

नितान्त अभाववादी प्रस्थानवादी अन्तर्भाववादी

द्वितीय पक्ष है भाक्त सम्प्रदाय। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हेतु यथाशक्य प्रस्तुत होने वाली शंकाओं का खण्डन पस्तुत किया है। भक्तिवादियों के मत में तीन विकल्पों की कल्पना करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की लक्षणागम्यता का खण्डन किया है।

14.5.4 भाक्तवादियों के तीन पक्ष (जिनका खण्डन किया गया है)

(1)क्या 'भक्ति और 'ध्वनि'	(2)क्या 'भक्ति'	(3) क्या भक्ति ध्वनि का
दोनों एक ही हैं?	'ध्वनि' का लक्षण है?	उपलक्षण हो सकती है?

इन सभी पक्षों का खण्डन करने के उपरान्त ध्वनि को 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' परिभाषा से अलङ्कृत किया है।

(1) अभाववादी –

''बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभावादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।''

स्वयं आनन्दवर्धन ने लिखा है कि बुध अर्थात् काव्य के तत्त्वज्ञ लोगों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' संज्ञा दी है। और जिसे परम्परा से पूर्व ही समाम्नात अर्थात् अच्छी प्रकार से प्रकट कर दिया गया है, सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का अन्य लोग अभाव कहते हैं। उन अभाववादियों के यथासम्भव विकल्प हो सकते हैं। उनका कथन सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने किया है।

''तस्याभावं जगदुपरे।'' इस कारिकांश का प्रयोग आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका में ही किया है। यह कारिकांश ध्वनि का अभाव मानने वाले 'अभाववादियों' की ओर संकेत करता है।'

खण्डन-मण्डन पद्धति को आधार बनाकर आचार्य आनन्दवधन ने स्थूणानिखणवन्याय से ध्वनि मत की स्थापना की है। खण्डन-मण्डन पद्धति में पूर्व पक्ष के सम्भावित आक्षेपों का कथन करते हुए उत्तर पक्ष अपना मनन एवं चिन्तन करता है तथा अन्त में स्व पक्ष की स्थापना करते हुए पूर्व पक्ष को निराकृत कर देता है। यहाँ पर भी यही प्रक्रिया हम देखेंगे।

14.5.5 (I) नितान्त अभाववादी–

सर्वप्रथम अभाववादियों के तीन समुदायों में से प्रथम नितान्त अभाववादियों के मत पर विचार किया जा रहा है।

पूर्व पक्ष-यदि कुछ लोग कहें-काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है। उसमें शब्दगत चारुत्व के प्रमाणस्वरूप अनुप्रासादि अलङ्कार प्राप्त हैं और अर्थगत चारुत्व के प्रमाणस्वरूप उपमादि अलङ्कार प्रसिद्ध ही हैं। शब्दार्थ में ही वर्णसंघटना के जो धर्म हैं, माधुर्य, ओज, प्रसादादि गुण हैं, वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अलङ्कार और गुणों) से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी (उपनागरिका आदि) सुनने में आती हैं। वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली आदि रीतियाँ भी शब्दार्थ में ही सुनने में आ जाती हैं। तो इन सबके अतिरिक्त यह ध्वनि नाम का कौनसा नवीन पदार्थ है?

ध्वनिकार के शब्दों में–

तत्र केचिदाचक्षीरन्-शब्दाथशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगतश्चोपमादयः वर्णसंघटना धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

तात्पर्य है कि चारुतासम्पन्न शब्द और अर्थ के साहित्य पर ही काव्य की सत्ता निर्भर है। यह चारुता दो प्रकार से होती है-(1)स्वरूपमात्र से रहने वाली तथा (2) संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ-चारुता शब्दालंकार के द्वारा और संघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणों के द्वारा होती है। इसी

प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता अर्थालंकारों द्वारा तथा संघटनाश्रित चारुता अर्थ-गुणों द्वारा सम्पन्न होती है। चारुता की उत्पादिका वृत्ति तथा रीति भी गुणालंकार से भिन्न नहीं होती। वृत्तियाँ (परुषा, उपनागरिका तथा कोमला) अनुप्रास की ही प्रकार है तथा रीतियाँ (गौडी, वैदर्भी तथा पांचाली) माधुर्यादि गुणों की समुदाय रूप है। काव्य के चारुत्व के प्रसाधक ये ही तत्त्व हैं। ध्वनि इनसे भिन्न हैं। फलत: ध्वनि की कल्पना ही असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों के प्रथम दल का कहना है कि काव्य का आत्मा उसमें रहने वाला चारुत्व है।

'**शब्दार्थ शरीरं तावत काव्यं**' शब्द अर्थ से मिलकर काव्य शरीर का निर्माण होता है। शब्दगत चारुत्व में वृद्धि करने वाले अनुप्रासादि अलंकार और अर्थगत चारुत्व में वृद्धि करने वाले उपमादि अलंकार काव्य में प्रसिद्ध हैं। वर्ण संघटना के धर्म माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि भी प्रसिद्ध ही हैं। काव्य में पुरुषा, नागरिका, ग्राम्या आदि वृत्तियाँ भी सुनाई गई हैं पर संघटना के धर्म वैदर्भी आदि रीतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। काव्य में इनसे भिन्न और कोई चारुत्व हेतु नहीं हो सकता अत: काव्य में ध्वनि का अभाव है।

खण्डन–आचार्यानन्दवर्धन ने अभाववादियों के प्रथम मत का खण्डन इस प्रकार से किया है–

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति शूरिभि: कथित:॥

अर्थात् जहाँ पर वाक्य अपने को और वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही ध्वनि है। अत: ध्वनि काव्य का अंगी धर्म है। जबकि वाच्य वाचक पर आधारित उपमा, अनुप्रास, गुण वृत्तियाँ आदि काव्य के अंग धर्म हैं।

इसे सरल एवं स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम कह सकते हैं कि जो कुछ 'अभाववादियों' का कहना है कि–'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्।' इनके मत में गुण, वृत्ति, रीति तथा अलंकार आदि प्रसिद्ध प्रस्थान से पृथक् ध्वनि नाम की कोई नई वस्तु नहीं है। इनके खण्डन में ध्वनिकार ने ध्वनि की परिभाषा देते हुए, निम्नलिखित कारिका को प्रस्तुत किया है–''यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:॥'' अर्थात्–काव्य में जब अर्थ या शब्द अपनी आत्मा तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर उस व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, तब वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि–ध्वनि का विषय-वाच्यार्थ की चारुता से उत्पन्न होने वाले उपमा आदि तथा वाचक की चारुता से उत्पन्न अनुप्रास आदि से पृथक् है–'अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्।'

14.5.6 (II) प्रस्थानवादी–

काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सरल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुणालंकार समन्वित काव्य ही 'काव्य' शब्द का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय सहृदयों का मनोरंजन भले ही यह करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय को यह आकृष्ट नहों करता। फलत: काव्य प्रस्थान की दृष्टि से ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों का जो द्वितीय मत है उसके अनुसार–ध्वनि नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि काव्य का एक प्रसिद्ध मार्ग है कि सहृदयों के अर्थ को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ से काव्य निर्मित होता है। काव्य के इस प्रसिद्ध मार्ग का उल्लंघन करके अन्य किसी प्रस्थान को काव्य नहीं कहा जा सकता।

'**सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तत्व**' ही काव्य का लक्षण है। यदि कोई अपने को सहृदय मानने वाले व्यक्ति ध्वनि को काव्य की सज्ञा दे भी दे तो वह सभी विद्वज्जनों को मनोग्राही नहीं हो सकता।

खण्डन–जो अभाववादी गुण और अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं उनका मत भी इसी से खण्डित हो जाता है, क्योंकि गुण और अलंकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध पर आश्रित है पर ध्वनि व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध पर आश्रित रहती है। इस प्रकार वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध पर आश्रित रहने वाले गुण एवं अलंकारों में व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

'व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध निबन्धनतयाध्वनेः
वाच्यवाचक चारुत्व हेत्वन्तः पातिताकुतः।

अर्थात् जो कुछ अभाववादियों का कहना है कि–'**नास्त्येव ध्वनिः**' क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार सम्भव नहीं हो सकता, जो प्रसिद्ध प्रस्थान–गुण, रीति, वृत्ति व अलंकारादि से पृथक् हो–'**सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।**' अतः ध्वनि–सिद्धान्त अमान्य है। इनका खण्डन करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं–ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु–'**लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्।**' ये लक्ष्यग्रन्थ रामायण, महाभारतादि हैं। इनके अतिरिक्त सभी काव्य चित्रकाव्य हो कहे जाते हैं। यथा–

''मा निषादप्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीःसमा॥ यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितं॥''

14.5.7 (III) अन्तर्भाववादी–

इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि को नवीन आलोचक काव्य में चारुता उत्पन्न करने वाला एक साधन मानते हैं। ऐसी दशा में काव्य में शोभाधायक जितने साधन माने जाते हैं, उन्हीं में किसी भीतर इसका अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट शोभाधायक साधन का यह एक नवीन नामकरण–मात्र है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं कोई अन्त है? निर्मल बुद्धि के द्वारा समीक्षा करते जाइये, तो नये–नये तत्त्वों का उन्मेष होता रहेगा। काव्य के जितने परिचित तथा परिज्ञात तत्त्व हैं, उनका उद्‌गम क्या किसी एक युग में सम्पन्न हुआ है? नहीं, कभी नहीं। ये तो नवीन अनुशीलन के परिणत फल हैं। विचित्रताओं की जब इयत्ता ही नहीं, तब ध्वनि की नवीनता ही क्यों मानी जाय? यह इन्हीं सम्भाव्यमान चारुता का एक नवीन उपकरण है। फलतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार आदि परिचित तत्त्वों में भली–भाँति किया जा सकता है। इस अन्तर्भाव की दृष्टि से भी ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

सरल शब्दों में अभाववादियों के तृतीय मत की मान्यता है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु होना सम्भव नहीं है। क्योंकि ध्वनि काव्य से कमनीयता का हेतु है। इस प्रकार कमनीयता का अतीक्रमण न करने वाले गुणालंकारादित्व में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाएगा। काव्य के इस प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न ध्वनि का कोई अस्तित्त्व नहीं है। यदि गुण अलंकार आदि में से किसी एक का नामकरण ध्वनि रख देने से कौनसी बड़ी बात होगी।

इस प्रकार आपका यह 'ध्वनि' मिथ्या प्रलाप है।

खण्डन–आचार्य आनन्दवर्धन ने इस मत के खण्डन में कहा है कि ध्वनि काव्य का अंगी धर्म है और वही काव्य की कमनीयता (चारुत्व) का हेतु है।

जबकि गुणालंकारादय काव्य के (गौण) अंग धर्म हैं। काव्य के आत्मभूत अंगी धर्म ध्वनि का जो व्यंग्य व्यंजक पर आधारित है उसका वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु गुण–अलंकार आदि में अन्तर्भाव कैसे

हो सकता है? अतः ध्वनि का काव्य में स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। ध्वनि ही काव्य की आत्मा जीवनाधायक स्वरूपाधायक तथा प्राणतत्त्व है।

तात्पर्य है कि जिन अभाववादियों का कहना है कि–'**न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्।**' अर्थात– ध्वनि नाम की किसी अपूर्व वस्तु की सम्भावना ही नहीं हो सकती, क्योंकि काव्य की कमनीयता में इसका कोई विशेष महत्त्व न होने से काव्य सौन्दर्य के हेतुभूत–गुण, अलंकार आदि में ही ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण उक्ति निम्नलिखित है–

''**यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृति–,**
व्र्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्य तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या संशसञ्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥''

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन अभाववादियों के प्रस्तुत मत का खण्डन करते हुए कहते हैं– '**वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः**' क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्व हेतु उपमा तथा अनुप्रासादि तो उस ध्वनि के अग रूप हैं। अङ्गी (प्रधान) तो ध्वनि ही है–

''**व्यंग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः। वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपतिता कुतः॥**''

इस प्रकार अभाववादियों के उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों का तर्कपूर्ण खण्डन करके आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इन तीनों अभाववादी मतों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई काव्यतत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि काव्य का सर्वालोचक–सम्मत तत्त्व नहीं है। कतिपय अलोचकसम्मत होने से इसकी मान्यता स्वीकृत नहीं। तृतीय पक्ष में ध्वनि काव्य में मान्य है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं। गुण, अलंकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वों के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनों पक्षों को हम क्रमशः नितान्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम समुचित रीति से दे सकते हं।

14.5.8 भाक्तवादियों का खण्डन

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपनी प्रथम कारिका में ही–''**भाक्तमाहुस्तमन्ये**'' इस कारिकांश के द्वारा भाक्तवादियों के मत को उपस्थापित किया है। भाक्तवादी ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव मानते हैं। 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' अथवा 'भजते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः'। 'तत आगतः भाक्तः'। अर्थात्–मुख्यार्थबाधादि तीनों बीजों से जो अर्थ प्रतीत होता है, उस लक्ष्यार्थ को 'भाक्त' कहते हैं।

अर्थात् 'भक्ति का अर्थ है लक्षणा। इस अर्थ के भीतर अनेक कारण होते हैं। भक्ति का मोटा अर्थ है भंजन–तोड़ना। मुख्य अर्थ को तोड़कर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ होती है भक्ति। जैसे–'कर्मणि कुशलः' में कुश लाने वाले अर्थ को तोड़कर 'निपुण' अर्थ का प्रतिपादन। अनेक आचार्य ध्वनि की सत्ता मानते तो अवश्य हैं, परन्तु उसे वे लक्षणा के भीतर ही निविष्ट करते हैं।

भक्ति शब्दों से आलंकारिकों की लक्षणा और मीमांसकों की गौणी नामक दो प्रकार की शब्दशक्ति का ग्रहण होता है। अलंकारिकों की लक्षणा के मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध और शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन ये तीन बीज है। इन तीन लक्षणा बीजों को बोधन करने के लिये भक्ति शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की गई है–

1. मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः।
2. भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादि धर्मो भक्तिः। मुख्यार्थ का लक्षणा सेसामीप्यादि सम्बन्ध
3. प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः। इस श्रद्धातिशयार्थक व्याख्यान से भक्ति परप्रयोजन का सूचक है। तत् आगतः भक्तः। मुख्यार्थ और बाधादित्रय हेतुओं से जो अर्थ प्रतीत होता है उस लक्ष्यार्थ को भाक्त कहते हैं। आचार्य भामह उद्‌भट आदि विद्वानों ने गौण वृत्ति शब्द का प्रयोग देखकर ध्वनि को भक्तिमात्र कहा है।

आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में, यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गुणवृत्ति या अन्य कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है फिर भी काव्यों में गुण वृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले भट्टोभट्ट या उनके उपजीव्य भामह ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया इसलिये उनके मत में गुणवृत्ति ही ध्वनि है।

ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है।

14.5.9 भाक्तवादियों का प्रथम मत

खण्डन–''भाक्तमाहुस्तमन्ये'' इस पक्ष में प्रथम विकल्प अभेदवाद का खण्डन है। जब पूर्वपक्षी भक्ति को ध्वनि कहता है तो क्या भक्ति और ध्वनि शब्द को घट कलश आदि के समान पर्याय रूप मानकर दोनों का अभेद प्रतिपादन करना चाहता है।

भाक्तमाहुस्तमन्ये तम् काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। भाक्तवादि विद्वान् ध्वनि को लक्षणागम्य कहते हैं और अन्य मीमांसक उसे गुणवृत्ति कहते हैं। शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति लक्षणावादियों के अनुसार भक्ति अर्थ से सम्भव है फिर ध्वनि का अस्तित्त्व मानने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है।

खण्डन–इस प्रथम अभेदवाद के खण्डन में आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि, भक्तया विभर्ति नैकत्वं रूप भेदादयं ध्वनिः।

अर्थात् रूप में भेद होने के कारण ध्वनि भक्ति के साथ एकत्व को (अभेद को) प्राप्त नहीं हो सकती। अतः भाक्तवादियों का ध्वनि को लक्षणागम्य कहना उचित नहीं है, क्योंकि भाक्त अर्थ तो वाच्यवाचक द्वारा वाच्य से भिन्न अर्थ का कथन करता है, जबकि व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनि होती है। अतः रूपभेद होने के कारण भक्ति और ध्वनि एक–दूसरे से अभिन्न न होकर पृथक्–पृथक् है।

14.5.10 भाक्तवादियों का द्वितीय मत

अतिव्याप्तेऽव्याप्तेर्न चासौलक्ष्यते तया

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण ध्वनि भक्ति से लक्षित भी नहीं हो सकती है। अतिव्यप्ति इसलिये है कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी (भक्ति) लक्षणा हो सकती है। जहाँ व्यंग्य के कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता वहाँ पर भी कभी प्रसिद्धिवश उपचार या गौणी शब्दवृत्ति से व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे–

स्वैऋणी स्त्रियाँ नाराज या प्रसन्न होती हुई रोती हुई जैसे भी देखो सभी रूप में वह मन को हरण कर लेती है। यहाँ गृहीता पद से उपादेयता और हरण पद से उसकी अधीनता लक्षणा द्वारा बोधित होती है। परन्तु ध्वनि का अवसर न होने में यहाँ भी अतिव्याप्ति है, अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

14.5.11 भाक्तवादियों का तृतीय मत

वह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेदों में से किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है। इस मत का खण्डन करते हुए आचार्यानन्दवर्धन ने कहा है कि यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि गुणवृत्ति से

समग्र ध्वनि लक्षित हो सकती है उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अभिधाव्यापार से ही समग्र अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकता है।

तब तो वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने और उसके द्वारा समस्त अलंकारों के लक्षित हो जाने से अलंकारों का पृथक्-पृथक् लक्षण करना व भामह आदि आलंकारिकों का काव्य के प्रति किया गया प्रयास तथा समस्त साहित्यशास्त्र ही व्यर्थ हो जाएगा और यदि किसी भेद में भक्ति हो सकती है तो इससे ध्वनि का भक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यदि अन्य लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तब तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होगी, अतः ध्वनि और भक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्व है।

ध्वनि की इस लक्षणागम्यता का खण्डन बहुत व्यवस्थित रूप से डॉ. मिथिलेश पाण्डेय ने प्रस्तुत किया है जो कि छात्रहित की दृष्टि से अमूल्य है उसे हम यहाँ देखेंगे–

भाक्तवादियों के मत में ध्वनि या व्यंजना की जो भी विशेषताएँ हैं, वे सभी लक्षणा में पाई जाती हैं। वक्ता या बोद्धा लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु जिन सामीप्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की पर्यालोचना करता है, उन प्रसिद्ध सामीप्यादि धर्मों को 'भक्ति' तथा उनसे प्राप्त होने वाले अर्थ को 'भाक्त' या लाक्षणिक अर्थ कहते हैं। अर्थात्–भक्ति को प्रयोजन के रूप में लेकर जो अर्थ निकलता है, उसे 'भाक्त' कहते हैं, यथा–'**सिंहो माणवकः।**' इस प्रकार भाक्तवादियों का विचार है कि ध्वनि तथा गुणवृत्ति दोनों परस्पर अभिन्न हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तीन विकल्पों की कल्पना कर ध्वनि की लक्षणागम्यता का खण्डन किया है, जो इस प्रकार है–

1. क्या भक्ति एवं ध्वनि दोनों एक ही हैं?

'भक्ति' एवं 'ध्वनि' में रूप भेद होने से दोनों एकरूपता को नहीं धारण कर सकतीं–'**भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।**' शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा सबका समूह–इन पाँचों अर्थों से व्यवहृत ध्वनि का लक्षणा से रूपभेद होता है। अतः ध्वनि लक्षणा से विशिष्ट वस्तु है। '**वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रन्तु भक्तिः।**' अतः सुस्पष्ट है कि–भक्ति तथा ध्वनि दोनों एक नहीं हैं।

2. क्या 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है?

इस प्रश्न के उत्तर में ध्वनिकार का कहना है कि–अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती–''**अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।**'' कवि लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग भी प्रायः करते हैं, जिनमें व्यंजना के रहते हुए भी कोई विशिष्ट सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता। लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति तो सर्वत्र होती है, किन्तु काव्य को ध्वनि-रूपता प्राप्त करने के लिए प्रयोजन को कुछ न कुछ गूढ़ अवश्य होना चाहिए, परन्तु ऐसे भी स्थान देखे जाते हैं, जहाँ प्रयोजन बिल्कुल गूढ़ नहीं होता तथा श्रोता को चमत्कार का बोध नहीं होता, ऐसे स्थलों पर ध्वनि नहीं हो सकती, जबकि लक्षणा अवश्य होगी। उदाहरणतया–

''परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयतः, तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्। इदं व्यस्त न्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः, कृशांग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशायनम्॥''

यही अलक्ष्य में लक्षण का घटना अतिव्याप्ति दोष है। ध्वनि का विषय तो वही होता है, जो ऐसी चारुता को प्रकाशित कर जो दूसरी उक्ति से असम्भव हो। दोनों का विषय एक होने पर ही लक्षण-लक्ष्य भाव बन सकता है, परन्तु दोनों में विषयभेद होने से भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं कहा जा सकता है। ध्वनि के विवक्षितान्यपरवाच्यादि बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। अतः अव्याप्ति दोष

है। उदाहरणतया–''**शिखरिणी क्व नु नाम ...... बिम्बफलं शुकशावकः।**'' अतः सुस्पष्ट है कि भक्ति, ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती–

''उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥''

3. क्या 'भक्ति' ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है?

इसके उत्तर में ध्वनिकार कहते हैं–''**कस्याचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।**'' सम्भवतः ध्वनि के भेदोपभेदों में से किसी एक ध्वनि का लक्षणा, उपलक्षण भले ही हो जाय, परन्तु सम्पूर्ण–ध्वनिभेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती। यदि ऐसा हुआ तो अभिधा व्यापार के द्वारा सम्पूर्ण अलंकार वर्ग ही लक्षित हो जाएगा। पुनः प्रत्येक का अलग–अलग लक्षण करना व्यर्थ सिद्ध होगा। ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं है। लक्षणा या भक्ति को यदि कोई ध्वनि का उपलक्षण मान भी लेता है, तो इसमें तो हमारी ही पक्षसिद्धि होगी, कि–'**अस्तिध्वनिः, काव्यात्मा चास्ति**'। इस प्रकार ध्वनि ही काव्य की आत्मा सिद्ध होती है।

14.5.12 (III) अनिर्वचनीयतावादियों का खण्डन

पूर्व पक्ष–तृतीय विरोधी जो कि अनिर्वचनीयतावादी है उनके अनुसार ध्वनि कोई विलक्षण पदाथ है। ध्वनि तत्त्व को वाणी के क्षेत्र से बहिर्भूत माना है। ध्वनि स्वतः अनुभूति का विषय है। ध्वनि की शब्दजन्यमीमांसा नहीं हो सकती।

खण्डन–आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि जिन लोगों ने सहृदय जनों के द्वारा संवेद्य एवं अनिर्वचनीय ध्वनि के स्वरूप को आम्नात किया है वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं हैं। क्योंकि कथित और वक्ष्यमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षण के प्रतिपादित होने पर भी यदि उसका अनिवर्चनीयत्व है, तब तो वह (अनिर्वचनीयत्व) समग्र वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त है। पुनः यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि का कोई दूसरे काव्यों से बढ़कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

''येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत् उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपामाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।''

इस प्रकार ये तीन विरोधी मत ध्वन्यालोक में पाए जाते हैं।

14.5.13 ध्वनि की स्थापना

सम्भावित मतों का खण्डन करने के पश्चात् आनन्दवर्धन काव्यस्यात्मा ध्वनि को सिद्ध किया। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व अनेक साहित्याचार्य काव्यलक्षण करते आए हैं, किन्तु इस 'ध्वनि' शब्द का कथन ध्वन्यालोककार से पूर्व किसी की भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि भी नहीं कर पाई है।

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' के रूप में व्यवस्थित है उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम से दो भेद हो जाते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। उसके अनुसार तो शरीर ग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिये। ऐसी स्थिति में, शब्द तो शरीर के भाग में ही समावेश प्राप्त करता है, क्योंकि वह स्थूल और कृशादि शरीर की भाँति सभी लोगों द्वारा संवेद्य है। इसके विपरीत अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं होता। अर्थ मात्र से काव्य का व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में वह काव्य का व्यपदेश नहीं होता। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा गया 'सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसनीय'। जो अर्थ ह वह एक ही है और दो शाखाओं वाला होने के कारण विवेचनशील लोगों द्वारा विभाग बुद्धि से विभाजित किया जाता है।

काव्यात्मभूत ध्वनि के अंग

शब्दरूप **अर्थरूप**

शब्दरूप एवं अर्थरूप ध्वनि

वाच्य **प्रतीयमान**

यहाँ प्रथम विभाग में जो शब्दरूप एवं अर्थरूप ध्वनि पठित है यहाँ ध्वनि एवं इन द्विधा प्रकारों में अङ्गाङ्गीभाव है। ध्यातव्य है कि ये ध्वनि के भेद नहीं हैं। केवल शब्द में चारुत्व या ध्वनि अभिव्यंजित नहीं होती है। न ही केवल अर्थ में। चूँकि इस अर्थ से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ निकाले जाते हैं अतः इस अङ्ग का विभाजन दिखाया गया है।

'शब्दार्थ शरीरं काव्यमिति' यदुक्तं तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह–सहृयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते।''

(लोचन टीका अभिनवगुप्त विरचित)

यहाँ जो प्रथम भेद वाच्य कहा गया है वह तो उपमादि प्रकारों से लोक में बहुत विश्रुत है। किन्तु ध्वन्यालोककार का मुख्य प्रयोजन तो प्रतीयमान नामक नवीन अर्थ की संकल्पना करना ही है।

प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न बताते हुए कहते हैं। प्रतीयमान तो वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् है इसे व्यंग्यार्थ भी कहा जाता है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

प्रतीयमान तो कोई अन्य ही वस्तु है जो महाकवियों की वाणी में 'अङ्गनाओं में लावण्य' की भाँति प्रसिद्ध शृङ्गारादि अवयवों के अतिरिक्त भासित होती है। अर्थात् सहृदयों में प्रसिद्ध जो प्रतीयमान है वह प्रसिद्ध उपमादि अलङ्कारों से प्रतीत होने वाले शब्द तथा अर्थरूपी अङ्गों से ठीक उसी तरह भिन्न है जिस तरह की लावण्य रमणियों के मुख, नेत्र, श्रोत्रादि से प्रतीत होने वाले अवयवों तथा अलङ्कारों से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार प्रतीयमानार्थ एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है जो वाच्यार्थ को एवं प्रतीयमानार्थ दोनों को सुशोभित करता हुआ, सहृदयों के हृदय को आह्लादित करता है।

यहाँ लावण्य से तात्पर्य है–मुक्ताओं में जो छाया की तरलता की भाँति अङ्गों में कुछ झलकता या दीप्तित हुआ सा मालूम पड़ता है वह लावण्य कहलाता है।

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

और यह लावण्य की भाँति प्रतीत होने वाला प्रतीयमानार्थ कदाचित् विधिरूप होने पर भी प्रतिषेध रूप होता है-

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

कदाचित् वाच्य निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमानार्थ विधिरूप प्रतीत होता है-

श्रवश्रूरत्र शेते (निमज्जति) अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः॥

कदाचित् वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर (व्यंग्यार्थ) प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप (न तो विधिरूप तथा न ही निषेधरूप) होता है।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तथा विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

कदाचित् वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होने पर भी अनुभयरूप होता है।

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

कदाचित् वाच्यार्थ से विभिन्न विषयरूपों में व्यवस्थापित व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है-

कस्य वा न भवति रोषो दृष्टा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवाये सहस्वेदानीम्॥

इन उदाहरणों पर मनन करके यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रतीयमान रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

ध्वनिकार कहते हैं कि काव्य का आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि का श्लोक बन गया। अतः सिद्ध हुआ वस्वलङ्कारध्वनि वहीं पर काव्यरूपता को अङ्गीकार करती है जहाँ वह रसध्वनि पर्यवसायी होती है।* सामान्य मनुष्य की वाणी वाच्यार्थ को धारण करती है किन्तु महापुरुषों अर्थात् विद्वत्वर्ग की वाणी प्रतीयमानार्थ को द्योतित करती है। अतएव इस प्रतीयमानार्थ को जानने के लिये काव्यमर्मज्ञ होना या सहृदय होना परम आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण ज्ञान एवं शब्दकोष ज्ञान की सहायता से वाच्यार्थ को तो समझा जा सकता है किन्तु प्रतीयमानार्थ को नहीं।

*** सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।**
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिमाविशेषम्॥

प्रतीयमानार्थ को तो काव्यशास्त्रमर्मज्ञ ही समझ सकते हैं-

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

यहाँ यह विचारणीय विषय है कि कवि व्यंग्यार्थ का अवगमन करने के लिये ही विविध शब्दों का प्रयोग क्यों करता है। तो इसका उत्तर यह है कि वाच्यार्थ तो सामान्यजन की वाणी का विषय है, महान

कवियों की वाणी जो सहृययों के हृदय को आह्लादित करने के उद्देश्य से प्रवृत्त होती है उसका उद्देश्य तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति से पाठक को (विद्वत्वर्ग को) चमत्कृत कर देना ही है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वाच्यार्थ को कवि छोड़ देता है। वाच्यार्थ तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति में साधन मात्र है।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाद्वतः॥

जिस प्रकार अन्धकार में अवलोकन के लिये दीपक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ के ज्ञान के लिये वाच्यार्थ की आवश्यकता होती है।

वैसे भी सोपानारोहणवत् ही क्रमशः एक से दूसरे चरण पर जाने वाले की ही सफल गति होती है–

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

जिस प्रकार पदार्थ के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के ज्ञानपूर्वक ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है। इसे अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में लिखते हुए ध्वनि की परिभाषारूप में आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने–आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह 'काव्यविशेष' विद्वान् लोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।

14.5.14 ध्वनि के भेदों का निरूपण –

स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

ध्वनि–भेद -

(1) अविवक्षितवाच्य

(2) अविवक्षितान्यपरवाच्य

14.5.15 (1) अविवक्षितवाच्य ध्वनि –

उदाहरण–

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रियः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानातिसेवितुम्॥

ये पुनः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के भेद से द्विधा रूपों से जानी जाती है।

अविवक्षितवाच्यध्वनि

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य

अर्थान्तरेसङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥

14.5.16. (2) अविवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि –

यह भी (रसादि) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद से द्विधा विभक्त किया गया है।

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥

अविवक्षितान्यपरवाच्य

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

इनके अवान्तरावान्तर भेदों को देखने पर अन्त में कुल 36 भेद निष्पन्न होते हैं किन्तु यहाँ संक्षेप में उनका चार्ट द्वारा अवबोध मात्र कर रहे हैं। उनकी व्याख्या की यहाँ अपेक्षा नहीं है अतः हम सख्यागणन के ब्याज से उनकी स्थिति को देखेंगे।
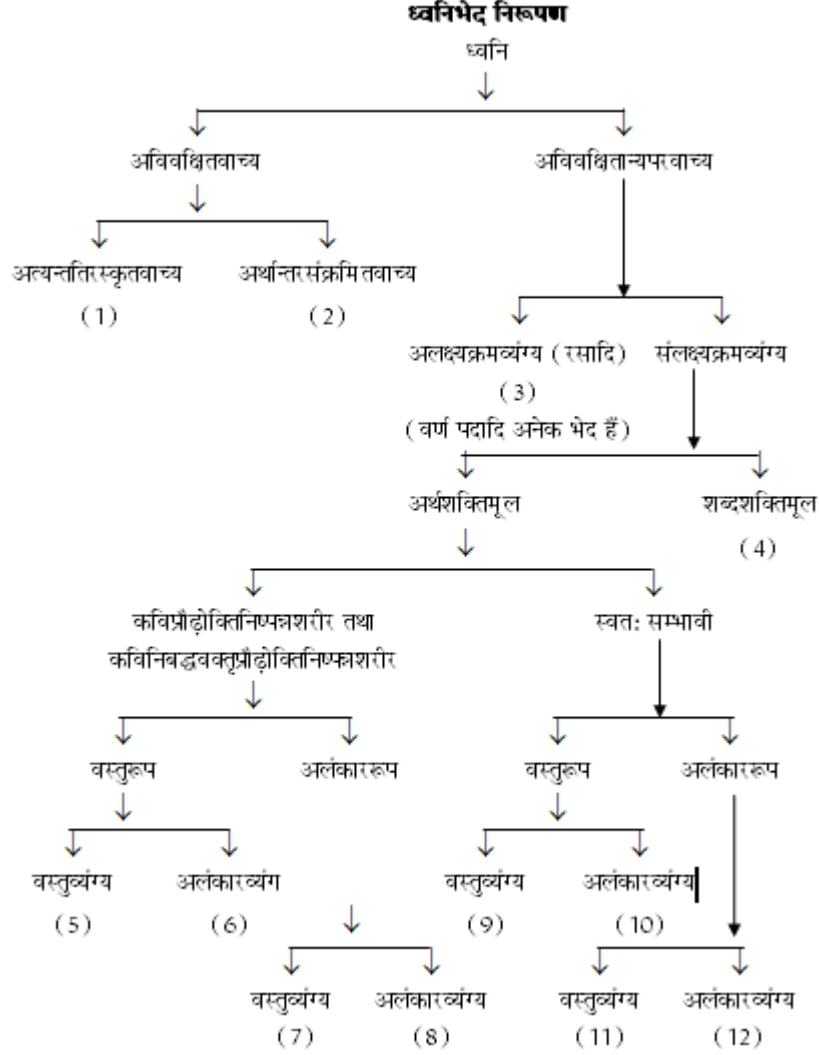
उपर्युक्त 12 भेदों में प्रत्येक के पदप्रकाश्य वाक्यप्रकाश्य तथा प्रबंधप्रकाश्य तीन-तीन भेद होने से कुल (12 × 3 = 36) छत्तीस भेद निष्पन्न होते हैं।

14.6 वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ में अन्तर

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

अर्थात् काव्य की आत्मारूप से अवस्थित सहृदयश्लाघ्यार्थ के दो भेद प्राप्त हैं–प्रथम वाच्यार्थ, द्वितीय प्रतीयमानार्थ। इन्हें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी कहा जाता है। ये दोनों अपने अभिधेयानुसार किस प्रकार एक–दूसरेसे भिन्न हैं ये जान लेना परमावश्यक है। कुछ महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों में हम इनका भेद देखेंगे, यथा–

(1) स्वरूपभेद

(2) विषय–वस्तुभेद

(3) निमित्तभेद

(4) कालभेद

(5) संख्याभेद

(6) आश्रयभेद

(7) कार्यभेद

14.6.1 स्वरूपभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में सबसे बड़ा भेद तो स्वरूपभेद है। वाच्यार्थ अपने वाक्य में निहित पदों का अक्षरश: अर्थ प्रस्तुत करेगा और उतनी ही दूर प्रवृत्त होगा किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की तो सीमा असीम है। किसी भी छोटे से वाक्य का अनेक लोगों के लिये कुछ विशेष गूढ़ या निमित्तरूप अर्थ हो सकता ह। इसकी अनेक प्रकार से प्रतीति देखी जाती है। क्वचित् वाच्यार्थ विधिरूप प्रतीत हो रहा है वहीं उस वाक्य का व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप भी देखने में आता है। क्वचित् वाच्यार्थ निषेधरूप है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रवृत्तिपरक होता है। क्वचित् अन्य ही स्वरूप देखने में आता है। यहाँ हम उदाहरण से एक ही वाक्य का वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ किस प्रकार भिन्न हो सकते हैं, देखेंगे–

''**भ्रम धार्मिक विस्रब्ध: स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।**
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

अर्थात्–''हे ब्राह्मण! अब तुम गोदावरी के किनारे कुञ्ज में निश्चिंत होकर भ्रमण करो, क्योंकि वहाँ जो कुत्ता तुम्हें परेशान करता था वो अब वहाँ रहने वाले पागल शेर के द्वारा मार दिया गया है।''

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ तो विधिपरक है और व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक है।

(1) विधि–हे ब्राह्मण! अब तुम सुख से उस उपवन में रमण करो, क्योंकि जो शुनक तुम्हें परेशान करता था वो अब मृत है, वहाँ नहीं है।

(2) निषेध–यहाँ निषेध का प्रयोजन परिस्थिति की भयङ्करता है। पहले जो जन्तु परेशान करता था वो मात्र कुत्ता था, वो दुविधा तो अब हट गई है, किन्तु जिसने उस सङ्कट से मुक्ति दिलाई है वो तो एक शेर है। अत: उस उपवन में एक शेर भी रहता है यह कहकर उक्त वाक्य में विधि के रहते हुए भी निषेधपरक अर्थ द्योतित हो रहा है कि ब्राह्मण उस उपवन की ओर मत जाना वहाँ एक शेर भी रहता है।

प्रस्तुत उदाहरण तो है वाच्यार्थ के विधिपरक होने पर व्यङ्ग्यार्थ के निषेधपरक होने का क्वचित् ऐसी स्थिति भी देखी जाती है कि वाच्यार्थ तो निषेधपरक होता है और उसका व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक। यथा–

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि॥

यहाँ एक (प्रियतमा) प्रोषित पतिका स्त्री है, (प्रोषित पतिका वह स्त्री होती है जिसका पति परदेश चला गया है) ऐसी तरुणी को देखकर कोई पथिक कामासक्त हो गया और उस स्त्री को भी उस पुरुष पर आसक्ति हो गई है। अब वो स्त्री उसे दिन में तो मर्यादाभय से बुला नहीं सकती है अतः रात्रि में शयन हेतु निमंत्रण देते हुए कहती है–

''मेरी सासु यहाँ सोती है (जो कि बहुत गहरी नींद सोती है) और इस खाट पर मैं सोती हूँ। हे रात के अन्धे पथिक! कहीं तुम रात्रि को मेरी खाट पर आकर न गिर पड़ना। दिन में ही भली-भाँति देख लो।''

यहाँ वाच्यार्थ तो स्पष्ट है, निषेधपरक है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ है कि रात्रि में कहीं तुम आकर सासु की खाट से ना टकरा जाना। दिन में ही मेरी और सासु की खाट का स्थान भली-भाँति देख लो। रात्रि में मेरी ही खाट पर आना।

इस प्रकार हमने देखा कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद की दृष्टि से कितना भयंकर अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

14.6.2 विषय-वस्तुभेद–

वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है तो व्यङ्ग्यार्थ का विषय अन्य व्यक्ति होता है। यथा–

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

अर्थात् प्रिय के वर्ण युक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं आता, अरी, मना करने पर भी भौंरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका दुष्परिणाम भुगत।

यहाँ पति के द्वारा तो ठुकराई गई है प्रियतमा किन्तु उसकी सखी सपत्नियों के मध्य उसकी प्रतिष्ठा बनाए रखने हेतु 'दन्तक्षत' को छुपाने के लिये उसे भ्रमर द्वारा क्षत बताकर उसकी लाजरक्षा कर रही है। रसिक के व प्रेमिका के प्रति यह भाव है कि आगे से प्रत्यक्ष दन्तक्षत मत करना।

इस प्रकार वाच्यार्थ तो यहाँ सबके लिए एक ही होता है परन्तु प्रतीयमानार्थ सामाजिक पात्रों के लिये पृथक्-पृथक् होता है। अतः पति, सपत्नी, पड़ौसी, नायिका, जार एवं रसिक सभी के लिये इस श्लोक का अर्थ भिन्न है।

14.6.3 निमित्तभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ को समझने के निमित्त अलग-अलग होते हैं। वाच्य अर्थ को शब्द और अर्थ के नियमों के ज्ञान मात्र से, सामान्य शब्दकोष एवं व्याकरणादि के सामान्य ज्ञान को रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है, जबकि प्रतीयमानार्थ को वे ही लोग जान सकते हैं जिन्हें काव्यशास्त्र का ज्ञान हो।

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स वु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

14.6.4 कालभेद–

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बोध हेतु काल में भी बाध्यता रहती है। यावत् व्यक्ति वाच्यार्थ को नहीं सुन लेता तो व्यङ्ग्यार्थ को नहीं जान सकता। अतः वाच्यार्थ पूर्ववर्ती होता है और व्यङ्ग्यार्थ परवर्ती होता है।

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।

जिस प्रकार वाक्य का अर्थ जानने के लिये वाक्य में प्रयुक्त पदों एवं अर्थों का बोध होना आवश्यक होता है वैसे ही प्रतीयमान अर्थ का बोध होने के लिये वाच्यार्थ का ज्ञान होना आवश्यक होता है।

14.6.5 संख्याभेद–

वाच्यार्थ तो नियत होने से सदैव एक ही अर्थ देता है किन्तु प्रतीयमानार्थ अनेक व्यक्तियों के अनुरूप देश, काल व परिस्थिति को देखते हुए भिन्न-भिन्न अर्थ देने के कारण एकाधिक संख्यावाची होता है। इन्हें नियत एवं अनियत नाम से भी जाना जाता है।

यथा–कस्य वा न भवति रोषो –।

पूर्व में पठित श्लोक को देखने से यह ज्ञात होता है कि भौंरे वाले कमल को नहीं सूँघनारूप वाच्यार्थ है एवं सपत्नी, पति, पड़ौसी आदि के लिये इस श्लोक का व्यङ्ग्यार्थ नानार्थवाची है।

14.6.6 आश्रयभेद–

वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के अर्थ को जानने हेतु आश्रय में भी भेद देखा जाता है। यथा–''अधरों पर दन्तक्षत का परिणाम भुगत।'' यहाँ पर यह सिद्ध है कि यदि हमें वाच्यार्थ को देखना है तो मात्र शब्द या वाक्य का आश्रय लेंगे। किन्तु यदि हमें व्यङ्ग्यार्थ देखना है तो हमें वाक्य, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, रचना कुछ भी आश्रय हो सकता है।

14.6.7 कार्यभेद–

वाच्यार्थ का कार्य वाक्य के अर्थ की प्रतीति मात्र होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का कार्य उस वाक्य में नीहित अर्थ की चमत्कृति दिखाना है। साहित्यदर्पणकार ने वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में पृथकता दिखाने वाले समस्त हेतुओं को एकत्रित कर एक श्लोक में निबद्ध कर दिया है–

बोद्धस्वरूपसङ्ख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यङ्ग्यः॥

इस प्रकार वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ के प्रतीत होने में जो हेतु उनके पार्थक्य को सिद्ध करते हैं उनकी हमने चर्चा की।

14.7 ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

चूकि स्फोट से ही ध्वनि का स्फुरण हुआ है, स्फोट शब्द का वाची है और शब्द ब्रह्म माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि ध्वनि भी नित्य है। ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन किये बिना इस निखिल चराचर जगत का कोई प्रयोजन नहीं है। न कोई बात कर सकता है ध्वनि के बिना, न अन्य किसी की बात को सुन या समझ सकता है, अतः ध्वनि तो अपने आप में चमत्कारिक मत है। उसका सभी प्रस्थानों के साथ गूढ़ सम्बन्ध स्वाभाविक है। लोक में भी यदि हम देखें तो बिना ध्वनि कुछ भी स्फुरित नहीं होगा। सारी सृष्टि मौन हो जाएगी। झरने की कलकल, वायु का वेग, पक्षियों की कलरव कुछ भी सुनाई नहीं देगा। और यदि उस ध्वनि के होने को मान भी लें तो भी ध्वनि सम्प्रदायों के मत को मानना ही पड़ेगा अन्यथा

रोको, मत जाने दो

रोको मत, जाने दो

आदि जो एक ही वाक्य के भिन्न भिन्न अर्थ देखे जाते हैं वे ध्वनि के भेद से ही देखे जाते हैं।

अब हम ध्वनि से विभिन्न सम्प्रदाय किस प्रकार प्रभावित, संरक्षित एवं संवर्धित है, इस दृष्टि से विचार करेंगे।

14.7.1 ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय

पूर्व के अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि ध्वनि, मुख्यतया तीन प्रकार की है- (1) वस्तु ध्वनि, (2) अलङ्कार ध्वनि, (3) रस ध्वनि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अलङ्कार, वस्तु एवं रस भी ध्वनि ही है। रस को ध्वनि का प्रकार कहा है किन्तु जिस ध्वनि को ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा कहा है वो मूलतः रस ही है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्व. 1.5

इस बात को स्पष्ट करते हुए लोचनकार लिखते हैं कि

'स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्ति-ग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एवं वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने रसतत्त्व की ध्वनि सिद्धान्त द्वारा काव्य में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठा की ह। रस को आनन्दवर्धन ने अलौकिक कहा है क्योंकि रस की अनुभूति कभी भी वाच्यार्थ से उतनी अच्छी तरह से नहीं हो सकती, जितनी अच्छी तरह से व्यङ्ग्यार्थ से होती है। और वाच्यार्थ से उसका संस्पर्श भी नहीं हो सकता। काव्य के अन्य सभी तत्त्व रस की अभिव्यक्तिके साधनरूप ही होते हैं।

ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्।'

अतः जितना सम्मान रस को ध्वनिकार ने दिया उतना रस सम्प्रदाय ने भी नहीं दिया। और अलङ्कारवादियों ने तो रस को एक अलङ्कार मात्र ही कह दिया।

14.7.2 ध्वनि और रीति का सम्बन्ध :

'रीतिरात्मा काव्यस्य' मत को प्रतिष्ठापित करके आनन्दवर्धन से पूर्व वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था। उनका (वामन का) मत था कि रीति एक विशिष्ट पद रचना है और काव्य में पदरचना से ही चमत्कृति देखी जाती है जो काव्य की आत्मा है।

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटनामात्र कहा है। रीति और रस में आनन्दवर्धन ने उपकार्य-उपकारकभाव सिद्ध किया है क्योंकि उचित पदसंघटना से ही रस की निष्पत्ति उचित प्रकार से हो सकती है। स्वयं आनन्दवर्धन ने कहा है-

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशुक्नुवद्भिर्व्याकर्तं रीतयः सम्प्रवर्तिता॥ 3।46

अर्थात् यह अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्व जैसे कहा गया है, उसे व्याकृत करने में असमर्थ हुए लोगों के द्वारा रीतियाँ प्रवर्तित की गई है।

इस ध्वनितत्त्व के प्रवर्तन से निर्णीत काव्यतत्त्व को अस्फुटस्फुरित की स्थिति में प्रतिपादन करने में असमर्थ होते हुए वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली इन रीतियों का प्रवर्तन किया गया।

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती.....। 3।6।

इस श्लोक से रीति की संघटना को एवं रीति के सम्पूर्ण प्रकरण को आचार्य आनन्दवर्धन ने बहुत पाण्डित्य से प्रदर्शित किया है।

14.7.3 ध्वनि और वृत्ति

आनन्दवर्धन वृत्ति का विभाजन दो प्रकार से करते हैं, एक कैशिकी आदि वाच्याश्रय नाट्यवृत्तियाँ और दूसरी वाचकाश्रय उपनागरिका आदि वृत्तियाँ। आनन्दवर्धन उपनागरिका आदि वृत्तियों को गुणों से अभिन्न मानते हैं।

इन वृत्तियों को रस के अनुगुण होना चाहिये। स्वयं ध्वनिकार के शब्दों में-

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥

वृत्तयो हि रसादि तात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि काव्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति।

ध्वनिकार ने वाच्याश्रयाश्रित कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों को अर्थतत्त्व पर आधारित माना है तथा वाचकाश्रयाश्रित उपनागरिका आदि वृत्तियों को शब्दतत्त्व पर आश्रित माना है।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥

इस प्रकार वृत्तियाँ द्विधा एवं उनके आश्रय द्विधा आनन्दवर्धन ने स्वीकार किये हैं। इन्हें हम अधोलिखित चार्ट द्वारा हृदयङ्गम कर सकते हैं।
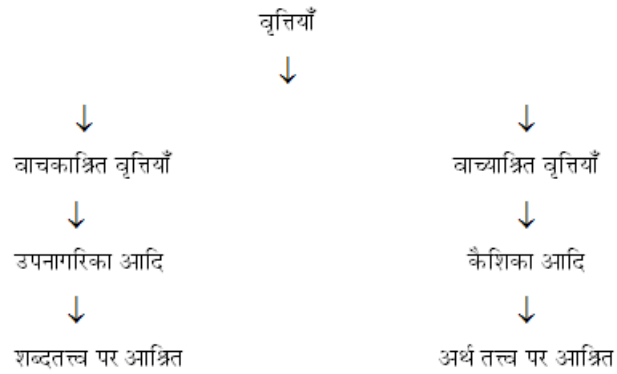
14.7.4 ध्वनि और अलङ्कार

ध्वनि में अलङ्कारों का समावेश आचार्य आनन्दवर्धन ने शुक्ति में रजत के आभास के समान ही किया है जिस प्रकार शुक्ति में अतिशय चाकचिक्य या भ्रमवशाद् रजत का आभास होता है उसमें कुछ निमित्त अवश्य होता है उसी प्रकार ध्वनिकार के मत में अलङ्कारों की सार्थकता अलङ्कार्य की शोभा बढ़ाने में है, जब उनका निवेशन काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा, तभी वे 'अलङ्कार' भी कहलाऐंगे।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

काव्य में उस अलङ्कार का कुछ भी स्थान नहीं, जो रस की व्यञ्जना में सहयोग नहीं करता। रसाभिनिविष्ट कवि के समक्ष अलङ्कार स्वतः ही आने लगते हैं। और जब अलङ्कार रसभावादि के तात्पर्य से शून्य होकर कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है तब चित्रकाव्य का विषय होता है।

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥

प्रतीयमान अर्थ की भिन्न स्थापना होने के बाद भी अनेक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने अलङ्कारों में ही काव्यात्मभूत ध्वनि को स्थापित किया। किन्तु जब ध्वनिकार के ध्वनि को काव्य की आत्मारूप में समस्त विरोधों का निराकरण करते हुए सिद्ध किया तब अलङ्कारों की स्थिति कुछ अपने रूप में प्रकट हो गई। अर्थात् अलङ्कारों को ध्वनि से भिन्न स्थान की प्राप्ति हुई।

14.7.5 ध्वनि और औचित्य

वाच्य और वाचकों का जो रसादिविषयक औचित्य से जोड़ना है, वह महाकवि का मुख्य कर्म है।

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः॥

वाच्य अर्थात् विशेष इतिवृत्तों का और उनके विषय के वाचकों का रसादि विषयक औचित्य के साथ जो जोड़ना है, वही महाकवि का मुख्य कर्म है। महाकवि का मुख्य यही व्यापार है जो रसादि को मुख्य रूप से काव्य का अर्थ बनाकर उनकी व्यञ्जना के अनुगुण रूप से शब्दों और अर्थों का उपनिबन्धन है।

''वाच्यानामिति वृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादि विषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम्।

और ये रसादि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन भरतादि आचार्यों के मत में भी ग्राह्य है इसका प्रतिपादन इस श्लोक से करते हैं-

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥

इस प्रकार रस एवं औचित्य का समावेश अपने ग्रन्थ में आनन्दवर्धन ने किया है। क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य विचारचर्चा ग्रन्थ की रचना की है उसे एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में मान्यता मिलने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को ही जाता है। औचित्य सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन के इस श्लोक को जाता है।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् यदि काव्य की आत्मा रस है तो रस का परम गूढ़ रहस्य औचित्य है।

ध्वन्यालोक में गुणौचित्य, अलङ्कारौचित्य, सङ्घटनौचित्य, विषयौचित्य का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

14.7.6 ध्वनि और वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का कथन सर्वप्रथम भामह ने किया। उनके अनुसार अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

भामह ने इसे समग्र अलङ्कारों का मूल कहा है और आनन्दवर्धन ने भी इस विचार का समर्थन किया है-

अतिशयोक्तिगर्मता सर्वालङ्कारेणु शक्यक्रिया।

अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार कवि की प्रतिभा के वश से जिस अलङ्कार पर अधिष्ठित होती है, उसमें अतिशय चारुत्व का योग हो जाता है और अन्य अलङ्कारमात्र होते हैं। इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को अङ्गीकार की योग्यता हो जाने से अभेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिये। और वह अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण कभी व्यङ्ग्य रूप से होती है, कभी वाच्यरूप से होती है। व्यङ्ग्यत्व भी कभी प्राधान्य से कभी गुणभाव से होता है। उनमें प्रथम पक्ष में वाच्य अलङ्कार का मार्ग है, द्वितीय पक्ष में ध्वनि में अन्तर्भाव है और तृतीय में गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता है।

'तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठतकविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवति सर्वालङ्कारशरीर-स्वीकरणयोग्यत्वेनामेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररुपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। तस्याश्चालङ्कारान्तर-सङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचित् व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्गस्वमपि कदाचित् प्रधान्येन कदाचित् गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरुपता।

वक्रोक्ति का एक सम्प्रदाय के रूप में विकास सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने ही किया। उनके पश्चात् वक्रोक्ति सम्प्रदाय को लेकर कुन्तक ने अपनी लेखनी चलाई।

इस प्रकार इस अध्यायांश में हमने ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से किस तरह से सम्बन्ध है, इस विषय-वस्तु का अध्ययन किया है। अतः अब हम कह सकते हैं ध्वनि और रीति, ध्वनि और रस, ध्वनि और औचित्य, ध्वनि और वृत्ति, ध्वनि और अलङ्कार, ध्वनि और वक्रोक्ति परस्पर सम्बद्ध है। काव्य के चारुत्व हेतु इन समस्त सम्प्रदायों की यथा-स्थान यथावसर आवश्यकता है, महत्ता है।

अतः ये समस्त सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्व-स्व अस्तित्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। काव्य की रचना में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं।

14.8 पारिभाषिक शब्दावली

अभिधेयाथ्र - अभिधा से प्राप्त अर्थ

लक्ष्यार्थ - लक्षणा से प्राप्त अर्थ (अन्य अर्थ में कहा जाना)

व्यङ्ग्यार्थ - व्यङ्ग्य में किसी बात को कहना

प्रतीयमानार्थ - प्रतीत होने वाला अर्थ (तात्पर्यार्थ)

शब्दयुगल - शब्द एवं अर्थ का जोड़ा

अनिर्वचनीय - जिसे शब्दों में न कहा जा सके

प्रतिपत्ति - निष्पत्ति

प्रस्थानवादी - किसी एक प्रस्थान का अनुसरण करने वाले

लावण्य - मुक्ताओं में छाया की तरलता की भाँति झलकने वाला तत्त्व

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धान्त के उद्भव को स्पष्ट कीजिये।

2. अभाववादियों, भाक्तवादियों एवं अनिर्वचनीयतावादियों के मतों को देते हुए आनन्दवर्धन द्वारा उनके मत के खण्डन को बताइये।

3. ध्वनि सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध सिद्ध कीजिये।

4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये–

(क) आनन्दवर्धन

(ख) भट्टनायक

(ग) महिमभट्ट

(घ) प्रतीहारेन्दुराज

बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1. कोष्ठक में से उचित आचार्य को उचित वर्ग में लिखिये–

ध्वनि को अलङ्कारान्तरान्तर्भूत करने वाले आचार्य	ध्वनि के प्रबल विरोधी आचार्य
(अ)	(क) ....
(ब)	(ख) ....
(स)	(ग) ....

[भट्टनायक, भामह, दण्डी, उद्‌भट, कुन्तक, महिमभट्ट]

बोध प्रश्न 2.

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये।

(अ) विवाक्षितान्यपरवाच्य .... का भेद है।

(ब) ....के ज्ञान पूर्वक प्रतीयमानार्य का ज्ञान होता है।

(स) प्रतीयमानार्थ ध्वनि सहृदयों के हृदय को .... करती है।

(द) ....पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

(य) ध्वनि काव्य की .... है। (आनन्दवर्धन)

बोध प्रश्न 3.

(क) अभाववादियों के तीन भेद कौनसे हैं?

(ख) तीन प्रमुखवादियों के नाम बताइये जिनका खण्डन आनन्दवर्धन ने किया है?

(ग) ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति बताइये?

प्रश्नों के उत्तर

14.12.1 निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर

इकाई से स्वयं जाँच करें।

14.12.2 बोध प्रश्न 1 के उत्तर

1. (अ) भामह (क) भट्टनायक

(ब) दण्डी (ख) कुन्तक

(स) उद्‌भट (ग) महिमभट्ट

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

(अ) ध्वनि

(ब) वाच्यार्थ

(स) आह्लादित

(द) प्रतीयमानं

(य) आत्मा

बोध प्रश्न 3 के उत्तर

(क) 1. नितान्त अभाववादी

2. प्रस्थानवादी

3. अन्तर्भाववादी

(ख) 1. अभाववादी

2. भक्तिवादी

3. अनिर्वचनीयतावादी

(ग) 1. ध्वनतीति ध्वनिः

2. ध्वन्यत इति ध्वनिः

3. ध्वननं ध्वनिः

14.10 सारांश

इस अध्याय में हमने ध्वनि का प्रादुर्भाव कहाँ से हुआ और किस तरह ये विभिन्न शब्दों का वाचक होता हुआ अन्त में आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वनि नामक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। ध्वनि का अर्थ, व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं तात्पर्य हमने अच्छी तरह से जाना। ध्वनिकार का परिचय एवं उनका काल निर्धारण भी हमने पढ़ा। ध्वनि विरोधी आचार्यों के मतों को पढ़ा एवं 14.5 अध्यायांश में हमने ध्वनि के मूल तत्त्व विभिन्न प्रमुख वादियों के खण्डनपूर्वक ध्वनि की स्थापना व ध्वनि के भेदों के बारे में जाना। वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ मं अन्तर और ध्वनि के अन्य रसादि सम्प्रदायों से सम्बन्ध को भी जाना। अतः इस अध्याय में हम ध्वनि के आद्योपान्त स्वरूप एवं स्थिति को जान सके।

14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी,वि.सं. 2012.
2. ध्वन्यालोक, लोचनटीका संवलित, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्स इन्स्टीट्यूट, पूना,1960.
3. भारतीय साहित्यशास्त्र भाग-2, बलदेव उपाध्याय,प्रसाद परिषद, वाराणसी, 1948.
4. भारतीय काव्यशास्त्र के नए आयाम, मनोहर काले, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999.